TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182993

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H80·9/S53Hg Accession No. H2932

Author शर्मा, जगन्नाथ साह ।

Title हिन्दी गद्य साहित्य का विकास

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी-गद्य-साहित्य का इतिहास

लेखक
जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम. ए., डी. लिट्.
रीडर हिन्दी-विभाग,
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

प्रकाशक
हिन्दी-भवन
जालंधर और इलाहाबाद

१९५६] [मूल्य २॥)

लेखक की अन्य कृतियाँ—

हिन्दी की गद्य-शैली का विकास
प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन
हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता
कहानी का रचना-विधान

प्रकाशक—इन्द्रचन्द्र नारंग, हिन्दी-भवन,
३१२ रानी मंडी, इलाहाबाद ३ ।
मुद्रक—इन्द्रचन्द्र नारंग, कमल मुद्रणालय,
३१२ रानी मंडी, इलाहाबाद ३ ।

दो शब्द

१९५४ के जाड़ों की बात है कि कलकत्ते के हिन्दी-हितैषी श्री कालीप्रसाद जी खेतान की प्रेरणा से जैपुरिया कालेज ने मुझे आमंत्रित किया—'हिन्दी साहित्य की आधुनिक प्रगति' पर चार भाषण देने के लिए। उनमें से तीन भाषणों का लिखित रूप ही प्रस्तुत पुस्तक है—'हिन्दी-गद्य-साहित्य का इतिहास'। पुस्तक का कलेवर देखकर प्रश्न किया जा सकता है कि इस लघु प्रसार में प्रस्तुत विषय का विस्तार-भार कैसे समाविष्ट हो सकता है? उत्तर रूप में मुझे केवल इतना ही निवेदन करना है कि वाणी के भव्य प्रासाद में छोटे-बड़े का भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता। भगवती की आराधना में कोई लघु पुष्प चढ़ा देता है तो कोई भव्य मालिका अर्पित करता है; किया करे जिसे जैसा रुचे। मैं छोटे मुँह बड़ी बात नहीं कर सकता; इसलिए थोड़े में जो कुछ कह सका, उपस्थित है। इस तरह की रचनाओं में विभिन्न विषयों का पूरा-पूरा निवेदन संभव नहीं मालूम पड़ा; अतः सर्वत्र संक्षेप करने की ओर ही ध्यान दिया गया है। इससे ऐसा भी दिखाई पड़ेगा कि कहीं-कहीं श्रेष्ठ कृतिकारों अथवा उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियों का उल्लेख न हो सका हो। पाठकों को भी बात इसी ढंग से समझनी

अपने आचार-विचार, रीति-नीति और विवेक-ज्ञान इत्यादि के विषय में ऊहापोह करने लगता है तब वह विचार-विमर्श, तर्क-वितर्क और व्यवहार-जनित विविध जटिलताओं की छानबीन में प्रवृत्त होता है। इस युग में आकर उसे भाषा के व्यापक प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है और तब वह अनुभव करता है कि पद्य की पारिभाषिक परिमिति से बाहर निकले बिना उसका काम नहीं चल सकता। इस युग में मानव अथवा उसका समाज केवल भावना के बल पर नहीं चल पाता। भावना से अधिक उसे चिंतन का आधार लेना पड़ता है। भावना कहाँ तक उचित और व्यवहार-संगत है, और कहाँ उचित-अनुचित का निराकरण करनेवाले विवेक की मीमांसा अपेक्षित है; कहाँ तक विभिन्न विषयों के तथ्यों और अनुभूतियों को पद्यात्मक संक्षेप में बाँधा जा सकता है और कहाँ खुलकर उनके व्याख्या-विस्तार अथवा विचार-मीमांसा के बिना काम नहीं चल सकता इन बातों को समझ कर वह भाषा के गद्य रूप की ओर आता है। गद्य के उन्मुक्त और स्वच्छन्द क्षेत्र में उतर कर ही भाषा वस्तुतः अपनी पूरी शक्ति, उपादेयता एवं व्यावहारिकता का पूरा-पूरा विकास करती है।

किसी भी भाषा का ग्रहण चाहे वह कविता में हो अथवा गद्य के रूप में किस प्रकार, कब से और किन अवस्थाओं में हुआ इसका आरंभिक इतिहास बड़ा कुतूहल-वर्धक होता है। भाषा-विज्ञान के जागरूक विद्यार्थी को इन बातों के सूक्ष्म अनुशीलन में अतीव आनन्द आता है। किन भिन्न स्थितियों में कैसे-कैसे प्रभावों को अपने में समेटते हुए कोई भाषा अपना नवीन रूप संगठित करती है अथवा बोलचाल में प्रयुक्त होनेवाली भाषा किस प्रकार अपने परिष्कार और प्रयोग का विस्तार करती है इसका अध्ययन बड़ा रुचिकर विषय होता है। व्रज, अवधी, राजस्थानी अथवा खड़ी बोलियों के सर्वप्राचीन प्रयोगों को यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा-समझा जाए तो अनेक रहस्य उद्घाटित होंगे। आरम्भ में न तो कहीं किसी का निखरा रूप मिलेगा और न किसी का सुनिश्चित

व्याकरण गठित मिलेगा। सभी भाषाएँ मिलजुल कर विशेष प्रकार के भावों एवं इतिवृत्तों के निवेदन में योग देती दिखाई पड़ेंगी। धीरे-धीरे प्रयोग में मँजती हुई, अर्थ-वहन की शक्ति का संचय करती हुई और अपने रूप को निखार देती हुई जब कुछ दूर तक कोई भाषा साहित्य में गृहीत हो लेती है तभी उसके अलंकरण, नियंत्रण तथा परिमार्जन का कार्य आरम्भ होता है। हिन्दी के भीतर ही देखा जा सकता है कि विविध अपभ्रंशों से जब विभिन्न प्रादेशिक बोलियों का रूप बनने लगा था उस समय उनमें पीछे चल कर राजस्थानी, ब्रज, खड़ी इत्यादि नामों से अभिहित होनेवाली भाषाओं के रूप-रंग का आभास यदा-कदा मिलने लगा था। इस सन्धि-कालीन भाषा-विषयक अध्ययन की अपनी गतिविधि ही निराली होती है।

हिन्दी गद्य के आरंभिक स्वरूप का विवेचन करते समय हमें इन तीनों भाषाओं के गद्यों की ओर देखना पड़ेगा—(१) राजस्थानी (२) ब्रज (३) खड़ी बोली। हिन्दी के सभी श्रेष्ठ इतिहास-लेखक इस विषय में एकमत हैं कि प्रथम दो भाषाओं का गद्य के क्षेत्र में क्रमिक विकास नहीं प्राप्त होता। आरम्भ में आवश्यकता से प्रेरित होकर उनकी छिटफुट गद्य-रचनाओं का स्वरूप अवश्य मिलता है पर उस आधार पर उनका सुसंबद्ध वृद्धिक्रम स्थापित करना कठिन है। परिस्थितियों और युगधर्म की प्रबलताओं के कारण उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते ब्रजभाषा के गद्य की स्थिति परम दयनीय हो गई थी। "गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् प्रचार न होने के कारण ब्रजभाषा-गद्य जहाँ का तहाँ रह गया। × × × × काव्यों की टीकाओं आदि में जो थोड़ा बहुत गद्य देखने में आता था वह बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। × × × × इससे इनके द्वारा गद्य की उन्नति की संभावना न थी। भाषा ऐसी अनगढ़ और लद्धड़ होती थी कि मूल चाहे समझ में आ जाय पर टीका की उलझन से निकलना कठिन समझिए।"[1] कुछ इसी

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले० पं० रामचन्द्र शुक्ल (सं० २००२) पृ० ३५८।

प्रकार का उखड़ा और अनियंत्रित इतिहास राजस्थानी के गद्य का भी है। यों तो चौदहवीं से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी की लम्बी दौड़ के भीतर अनेक गद्यात्मक कृतियाँ देखने में आती हैं और यदा-कदा उनमें कुछ सफाई भी मिलती है पर आश्रय के अभाव में उसका स्वतंत्र विकास नहीं हो सका और उसकी गतिशीलता छिन्न हो गई।

साहित्य-क्षेत्र के भीतर खड़ी बोली के प्रवेश का आरंभिक इतिहास भी अपने ढंग से निराला है। साधारण बोलचाल में इसका प्रयोग कब से, किन परिस्थितियों और किन क्षेत्रों में हुआ इसका यथेष्ट प्रमाण नहीं मिलता, पर अनुमानतः नित्य की सामान्य बातचीत में एवं व्यवहार में इसके प्रचलन के ऐसे भी प्रमाण यदा-कदा मिलते हैं[1] जिनके साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि आठवीं और नवीं शताब्दी से ही पश्चिमी उत्तरप्रदेश में इसका अपना स्थान बन गया था और जहाँ विभिन्न भागों के लोग एकत्र होते थे अथवा आपस में बातचीत करते थे वहाँ कुछ इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते थे जिसमें वर्तमान खड़ीबोली के पूर्व रूप का स्पष्ट आभास मिलता रहा होगा। ऐसी ही बोलचाल की कोई भी भाषा संयोग और अवसर पाकर साहित्य की भाषा बन बैठती है। पहले साधारण बोलचाल में चलते-चलते इसी में ग्राम-गीत इत्यादि की सामान्य रचनाएँ होने लगती हैं। तत्पश्चात् वही परिष्कृत और नियंत्रित हो कर किसी भी प्रकार की प्रभाव-धारा को व्यक्त करने में समर्थ हो जाती है और व्यापक रूप धारण कर सर्वप्रिय हो उठती है। यही अवस्था इस खड़ीबोली की भी हुई। जब तक यह केवल बोलचाल की परिमित परिधि में पड़ी रही होगी अवश्य ही उसमें अनेक प्रकार की सामान्य रचनाएँ बनी होंगी जिनका हमारे पास कोई लिखित रूप नहीं है।

---

१. देखिए 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' (नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित) पृ० ४१८–२१

खड़ीबोली में लिखित आरंभिक रचनाएँ पद्यमय ही मिलती हैं। नामदेव और कबीर ऐसे साधुओं ने सर्वप्रथम उस भाषा को अपनाया। अपने जीवन के अनुभूत विचारों एवं तथ्यों का उद्घाटन ही ऐसे लोगों का लक्ष्य था; भाषा के सजाव-शृंगार की उनको बिलकुल चिंता नहीं थी। भाषा खड़ीबोली व्रज अथवा अवधी है या राजस्थानी और पंजाबी है इस बात की फिक्र इन साधुसंतों को नहीं रहती थी। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में भाषा की अपूर्व खिचड़ी मिलती है। अपनी बात को नितांत सरल, व्यावहारिक और सर्वग्राही रूप में उपस्थित करना, उसे छन्दोबद्ध करके गेय बनाना और बोलचाल में चलने वाली भाषा के माध्यम से प्रचार करना ही उनको इष्ट था। यही कारण है उस आरंभिक युग में इन संत कवियों की वाणी का आधार लेकर जिन भाषाओं का रूप आज तक सुरक्षित चला आया है उससे तत्कालीन भाषा-वैविध्य के अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं। उस समय उत्तर से ले कर दक्षिण तक खड़ीबोली का प्रसार कैसा था इसका रूप इन उद्धरणों में देखा जा सकता है :—

जिन्ने जन्म डारा है तुज कूँ, विसर गया उनका ध्यान जू।
फिर पस्तायेगा दगा पायेगा, निकल जायगा अवसान जू।
हँस जायगा पिंजरा पड़ेगा, तुज कैसी भूल पड़ी जू।
अकेले आना अकेले जाना, सब झूटी माया पसरी जू।
जो कोई वसुधा दान दे आवे, पूर्ण जज्ञ करे करावे
तीरथ बरथ करे असनान, नहिं नहिं हरि नाम समान।
जो कोई जावे हिमालय गले, काशी करवत लेकर मरे
दसवें द्वारे काढ़े प्राण, नहिं नहिं हरि नाम समान।[1]

नामदेव (१२७०)

उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास॥

१. दक्खिनी का गद्य और पद्य—श्रीराम शर्मा पृ० १४–१६

घरबारी तो घर में राजी, फक्कड़ राजी बन में।
ऐंठी धोती पाग लपेटी, तेल चुआ जुलफन में॥

—कबीर (१४५६)

यों तो कबीर की भाषा में अन्य विविध भाषाओं का मेल सर्वत्र मिलता है पर खड़ी बोली का पुट उसमें सब से अलग दिखाई पड़ता है। जिस मिश्रित भाषा को उन्होंने अपनाया वही वस्तुतः उस काल की प्रामाणिक भाषा है। इन अवतरणों के आधार पर केवल इतना ही कहना है कि साहित्य की भाषा से भिन्न बोलचाल की एक सामान्य भाषा भी अपने क्रम से चली आ रही थी। खड़ी बोली के अनुराग की यह धारा कभी टूटी नहीं। ब्रजभाषा की धारावाहिक प्रगति में भी रहीम, सीतल, भूषण, सूदन आदि कवियों की रचनाओं में स्थान-स्थान पर खड़ी बोली की सुन्दर झलक दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी तक आते-आते तो खड़ी बोली का प्रसार और अधिक हो गया है। दक्षिण के मुसलमान शासकों और कवियों ने जैसी दक्खिनी या रेखता या खड़ीबोली का स्वरूप अपनाया उसे वर्तमान हिन्दी से भिन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें प्रयुक्त विभक्तियों, क्रियापदों, संज्ञाओं और सर्वनामों का वही अथवा उसी का पूर्वरूप है जो वर्तमान काल में प्रयुक्त हो रहा है। दक्खिनी के इन कवियों की रचनाओं को यदि तेरहवीं शताब्दी के अमीर खुसरो की पहेलियों के तारतम्य में पढ़ा जाय तो और अधिक साम्य दृष्टिगोचर होगा। दो-चार संक्षिप्त उद्धरणों से बात नितांत स्पष्ट हो जायगी :—

एक कहानी मैं कहूँ, तू सुन ले मेरे पूत।
बिना परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत॥
श्याम बरन और दाँत अनेक, लचकत जैसी नारी।
दोनों हाथ खुसरो खींचै, और कहे तू आरी॥[1]

—अमीर खुसरो (१२५५)

तुम बिन रहा न जावे अब नीर कुज न भावे।
विरहा किता सतावे मन सेति मन मिला दो॥
उनींदी हैं मुँज नयन, तुज याद सेती।
कहो तुम नयन में है कां की खुमारी॥[२]

—मुहम्मद कुली कुतुबशाह (१५८०)

पिया बिन मेरे तईं वैराग भाया है जो होनी हो सो हो जाये।
भभूत अब जोगियां का अंग लाया है जो होनी हो सो हो जाये॥[३]

—अशरफ

हम ना तुमको दिल दिया तुम दिल लिया औ दुख दिया।
तुम यह किया हम वह किया यह भी जगत् की रीति है॥[४]

—सादी

दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन।
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूँ॥
टुक वली को सनम गले से लगा।
खुदनुमाई न कर खुदा से डर॥

× × ×

तुम अँखड़ियाँ के देखे आलम खराब होगा।[५]

—शाहवली-अल्लाह

अजब तरह की है एक नार।
उसका मैं क्या करूँ विचार॥
वह दिन डूबे पी के संग।
लागी रहे निसी के अंग॥
मारे से वह जी उठे बिन मारे मर जाय।
बिन भावों जग जग फिरे हाथों हाथ बिकाय॥[६]

—मिर्जा मुहम्मद रफी (सौदा)

---

१. २. ३. ४. ५. ६. हिन्दी की गद्य-शैली का विकास (१९५६) पृ० ५–११ तक।

यहाँ तक तो पद्य में खड़ीबोली के प्राचीन प्रयोगों की बात हुई। गद्य के क्षेत्र में इस भाषा का व्यवहार कब से आरम्भ हुआ इसके जानने के साधन यथेष्ट रूप में अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। इन पंक्तियों के लेखक का अनुमान तो यह है कि मुसलमानी शासन की स्थापना के साथ ही खड़ी बोली के गद्य का प्रचलन हो गया रहा होगा और राजस्थान एवं महाराष्ट्र के राजे-रजवाड़ों की लिखा-पढ़ी के बीच अवश्य ही यदाकदा खड़ीबोली में पत्र-व्यवहार भी होते रहे होंगे। अभी तक किसी कृती का ध्यान अध्ययन के इस अंग की ओर नहीं गया और न प्राचीन राजवंशों के प्राचीन पत्राचारों की पूरी छानबीन ही किसी ने की। उदयपुर, जोधपुर, इन्दौर, कोल्हापुर इत्यादि दरबारों में जा कर यदि कोई परिश्रमपूर्वक ढूँढ़-खोज करे तो संभावना इस बात की है कि खड़ी बोली के आरंभिक स्वरूप को समझने लायक मसाला मिले। पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने खड़ी बोली के प्राचीन गद्य की कई रचनाओं का उल्लेख अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में किया है। ई० सन् १८०० के पूर्व की इन कृतियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

पटियाला दरबार के रामप्रसाद 'निरंजनी' ने सन् १७४१ में जो 'भाषा योगवासिष्ठ' नामक ग्रंथ लिखा है उसमें साफ-सुथरी खड़ी बोली का प्रयोग मिलता है। इसके पूर्व और कोई ग्रंथ ऐसा अभी तक नहीं मिला है जिसे खड़ीबोली का ग्रंथ कहा जा सके। "अब तक पाई गई पुस्तकों में यह 'योगवासिष्ठ' ही सब से पुराना है जिसमें गद्य अपने परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ता है अतः जब तक और कोई पुस्तक इससे पुरानी न मिले तब तक इसी को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और रामप्रसाद 'निरंजनी' को प्रथम प्रौढ़ गद्य-लेखक मान सकते हैं।" इस रचना में गद्य का रूप इस ढंग का है—"अगस्त जी के शिष्य सुतीक्ष्ण के मन में एक संदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और बिनती कर प्रश्न किया कि हे भगवन् आप सब तत्वों और सब शास्त्रों

के जाननहारे हौ, मेरे एक संदेह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों है, समझाय के कहो। × × × × मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़ कर जब तुम स्थिर होंगे तब तुम कर्ता हुये भी निर्लेप रहोगे। और हर्ष शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय क्रोध से रहित रहोगे।"

इसके पीछे सन् १७६१ में मध्यप्रदेश के निवासी श्रीदौलतराम ने हरिषेणाचार्य कृत जैन 'पद्मपुराण' का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया। इस अनुवाद की भी भाषा उक्त योगवासिष्ठ की तरह नितांत परिमार्जित न होते हुए भी इस बात को प्रमाणित करती है कि फारसी-उर्दू से सर्वथा स्वतंत्र खड़ीबोली की उस समय अपनी व्यावहारिक चलन थी और इसका क्रमिक विकास ही आगे चलकर मुंशी सदासुख लाल इत्यादि गद्य के आरम्भिक कृतिकारों में दिखाई पड़ा है। "अतः यह कहने की गुंजाइश अब जरा भी नहीं रही कि खड़ी बोली गद्य की परंपरा अंगरेजों की प्रेरणा से चली। इस 'पद्मपुराण' की भाषा का उदाहरण देखिए—"जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इन्द्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करै हैं और भूमि विषै साँठेन के बड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।"

इसी क्रम में आगे चल कर ई० सन् १७७३ और १७८३ के लगभग राजस्थान के किसी लेखक ने 'मंडोवर का वर्णन' लिखा था। उसकी भाषा का स्वरूप देखकर कहा जा सकता है कि भले ही वह साहित्य की भाषा न कहलाए पर बोलचाल में व्यवहृत होनेवाली जैसी भाषा होती है उसका अच्छा उदाहरण है, जैसे—"अवल में यहाँ मांडव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम मांडव्याश्रम हुवा। इस लफ़्ज़ का बिगड़ कर मंडोवर हुवा है।"

ऊपर दिए गए संक्षिप्त विवरण से इस बात का सामान्य ज्ञान हो जाता है कि अठारहवीं शताब्दी के अंत में आते आते हिन्दी-गद्य का

कैसा रूप विकसित हो रहा था। अति प्राचीन काल से चली आती हुई बोल चाल की भाषा खड़ी बोली को किस प्रकार लिखित साहित्य में स्वीकार किया गया और उसका प्रारम्भिक स्वरूप कैसा था इसे उक्त उद्धरणों में भली भाँति देखा जा सकता है। यह वह समय था जिसमें भाषा-समुद्धार का कोई कार्य विदेशियों की प्रेरणा से नहीं चला था। यही क्रम स्वतंत्र रूप में आगे भी चलता रहा और अंगरेजों के कथित प्रभाव से सर्वथा पृथक् रह कर गद्य-निर्माताओं का सदुद्योग अपने ढंग से वृद्धि पाता गया। इस विषय में मुंशी सदासुख लाल 'नियाज़' और सैयद इंशाअल्लाखाँ का कृतित्व देखा जा सकता है। ऐसी अवस्था में यह कहना या मानना कि हिन्दी-गद्य के आरम्भिक निर्माण में अंगरेजों का हाथ था अथवा उसका जन्म अंगरेजी सरकार की प्रेरणा से हुआ सर्वथा गलत और भ्रामक है। सामान्य गति से चलते हुए युग की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं से प्रेरणा ग्रहण कर स्वतंत्र रूप से हिन्दी-गद्य का उद्भव एवं विकास हुआ है। अवश्य ही अन्य अनेक कारणों में एक कारण कंपनी सरकार की अपनी आवश्यकता भी थी जिसको लेकर अंगरेजों ने गद्य के निर्माण में यथाक्रम योग दिया और उससे हिन्दी-गद्य के प्रसार का काम आगे बढ़ा।

उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध

पहले कहा जा चुका है कि मुगलों के शासनकाल में ही खड़ीबोली का प्रचार दक्षिण प्रदेशों और समस्त उत्तर भारत के शिष्ट समाज में था—भले ही आज हम उसके साहित्यिक प्रयोगों के प्रमाण उपस्थित करने में असमर्थ हों। जिस समय शाही शासन की व्यवस्था विच्छिन्न हुई और अंतिम मुगल सम्राटों की विभिन्न दुर्बलताओं के कारण चारों ओर से उन पर आक्रमण होने लगे उस समय राजनीतिक संगठन भी छिन्न-भिन्न होने लगा। एक ओर से अहमदशाह दुर्रानी की चढ़ाई ने और दूसरी ओर से मराठों ने दिल्ली के सिंहासन को हिलाना आरंभ कर दिया था। इस उथल-पथल के परिणाम स्वरूप अभी तक जो भाषा दिल्ली-आगरा और उनके पासवाले प्रदेशों के व्यवहार में बँधी चल रही थी वह इधर-उधर फैलने लगी। क्रमशः इसका प्रसार समस्त उत्तराखण्ड में बढ़ चला। उन दिनों अँगरेज़ों की शक्ति उत्तरोत्तर फैलती जा रही थी। बिहार और बंगाल का महत्त्व भी इसी कारण वृद्धि पा रहा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह जीवनधारा और भाषा जो अभी तक केवल उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में बँधी थी धीरे-धीरे पूरब की ओर प्रसरित होने लगी। व्यापार के केन्द्र भी इसी ओर बढ़कर स्थापित होने लगे। इस उलटफेर का प्रभाव भाषा की व्यवस्था पर भी पड़ा और वह खड़ी बोली जो अभी तक पश्चिमी भूभाग में ही परिमित थी, समस्त उत्तरी भारत में फैल चली।

अंगरेजी हुकूमत और सभ्यता की स्थापना के कारण भारत की राजनीतिक परिस्थिति में तो परिवर्तन हुआ ही, उसके सामाजिक और धार्मिक गठन में भी तारतमिक चिंतन का अवसर उत्पन्न हुआ। रेल-तार की नूतन सुविधाओं ने और नाना प्रकार की वैज्ञानिकता ने यहाँ

के रहन-सहन और आचार-विचार में उलट-फेर उत्पन्न किया। इन नवागतों के साथ इनका धर्म भी लगा रहा। अंगरेजों के शक्ति-विस्तार के साथ-साथ ईसाइयों के धर्मप्रचार का कार्य और क्षेत्र भी बढ़ने लगा। इन्हीं दिनों मुद्रण संबंधी यंत्रणालयों अथवा प्रेसों का प्रचलन भी हुआ। इससे गद्य-साहित्य के लिए जहाँ एक ओर विषय की व्यवस्था हुई वहीं दूसरी ओर उसके विस्तार के विभिन्न उपादान सामने प्रस्तुत मिले। जहाँ एक ओर जन-जीवन में सर्वतोमुखी जागरण की नाना स्थितियाँ उत्पन्न हुईं वहीं दूसरी ओर उस जागरण को पूर्णतया सजीव एवं क्रिया-शील बनाने के विभिन्न साधन भी एकत्र हो गए। इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हिन्दी-गद्य की सुदृढ़ नींव पड़ गई। उस समय से गद्य-रचना की जो धारा प्रवाहित हुई वह आगे चलकर कहीं रुकी नहीं और निरंतर बलवती एवं परिष्कृत होती हुई पीनकाय बनती गई।

रामप्रसाद निरंजनी एवं दौलतराम आदि की जो परम्परा पहले स्थापित हो चुकी थी उसका क्रम आगे भी चलता गया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जिन चार प्रमुख गद्य-लेखकों के नाम सामने आते हैं उनमें प्रथम दो तो स्वतंत्र रचनाकारों में हैं और दूसरे दो ने ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा में रह कर गद्य की पुस्तकें लिखीं। प्रथम वर्ग के मुंशी सदासुखलाल 'नियाज़' (१७४६–१८२४) दिल्ली के रहने-वाले थे और इंशा अल्लाखाँ कई स्थानों पर घूमते हुए लखनऊ में आ कर बसे थे। इनकी मृत्यु सन् १८१८ में हुई थी। मुंशी जी ने विष्णु-पुराण के कुछ उपदेशात्मक प्रसंगों को खड़ी बोली में लिखा था। उनकी भाषा में वही प्रौढ़ता और सफाई दिखाई पड़ती है जो 'योगवासिष्ठ' की भाषा में मिली थी। 'आवता', 'जावता', 'बात होय', 'को' (कोई), 'हेतु' इत्यादि पण्डिताऊपन तो उनमें अवश्य मिलता है पर वाक्यों की योजना सीधी और खड़ीबोली की प्रकृति के अनुकूल दिखाई पड़ती है। इस छोटे से उद्धरण में इस बात को देखा जा सकता है—

"जो सत्य बात होय उसे कहा चाहिए, को बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में जय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें करके लोगों को बहकाइए और फुसलाइए और असत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन-द्रव्य इकठौरा कीजिए और मन को कि तमोवृत्ति से भर रहा है उसे निर्मल न कीजिए।" —हिन्दीभाषा-सार, पृ० ५।

मुंशीजी का विषय पौराणिक और भाषा पण्डिताऊपन से भरी-पुरी थी, पर उनके तत्सम शब्दों के शुद्ध प्रयोग और वाक्ययोजना के हिन्दी रूप को देख कर भविष्य के स्वरूप की कल्पना सरल हो जाती है। इनके ठीक दूसरी ओर इंशा अल्लाखाँ की भाषाशैली उर्दू-ढंग की सामने आई। दोनों ने स्वतंत्र रूप में साहित्य-सर्जना का कार्य किया, न कि किसी आर्थिक अथवा राजनीतिक प्रेरणा से उद्दीप्त हो कर; ऐसी स्थिति में दोनों लेखकों का विशेष महत्त्व है। इसके अतिरिक्त आगे चल कर संस्कृतनिष्ठ और विदेशी प्रभाव-गर्भित भाषाशैली के जो दो रूप अपनी-अपनी पृथक्ता को बढ़ाते मिलते हैं और जिनके कारण साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में दो दल-से बन जाते हैं उनका आरंभ यहीं से हुआ था। एक ही समय के दो लेखकों ने अपनी-अपनी शैली की विशेषताएँ अलग-अलग झलकाईं और इन झलकों का प्रभाव आगे भी बढ़ता गया इस आधार पर इन दोनों गद्यलेखकों का विशेष महत्त्व है। मुंशीजी से सर्वथा पृथक् खाँ साहब की भाषा का रूप है। उनकी कहानी कल्पना-प्रसूत थी इसलिए उद्भावना-शक्ति की प्रधानता तो उसमें थी ही साथ ही उनकी शैली भी "सब से चटकीली-मटकीली, मुहावरेदार और चलती" है। भले ही उस प्रकार की शैली में गंभीर चिंतना संभव न हो पर आकर्षण और चलतापन पाठक को बरबस अपनी ओर खींच लेता है। उनकी भाषा में श्रुतिमधुर तुकान्तों का प्रेम अधिक मिलता है; साथ ही कृदंत और विशेषण के प्रयोग में वचन के विचार की जो

परिपाटी बहुत पहले छूट चुकी थी उसे पुनः इस युग में प्रयुक्त होते पा कर आश्चर्य होता है। "आतियाँ-जातियाँ जो साँसे हैं" में यह बात देखी जा सकती है। खाँ साहब की वाक्य-योजना में भी उर्दूवाला उलटफेर उनकी पृथकता को अधिक उभाड़ देता है और हिन्दी-उर्दू शैली के भेद को स्पष्ट कर देता है। छोटे-से उदाहरण में इन बातों को देखिए:—

"सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनाने वाले के साम्हने जिसने हम सब को बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया जिसका भेद किसी ने न पाया। आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं, उसके बिन ध्यान सब फाँसे हैं! यह कल का पुतला जो अपने उस खिलाड़ी की सुध रक्खे तो खटाई में क्यों पड़े और कड़वा-कसैला क्यों हो?

—रानी केतकी की कहानी।

जहाँ एक ओर हिन्दी-गद्य का स्वतंत्र रूप इस प्रकार गठित हो रहा था वहीं दूसरी ओर ईस्ट इण्डिया कंपनी भी भाषा-प्रसार में जागरूक थी और उसे भी गद्य के व्यवस्थित रूप की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था! नवागंतुक अंगरेजों को यहाँ रह कर कंपनी के व्यापार और सेना में काम करना था; यहाँ के निवासियों के संपर्क में आना था और भावों तथा विचारों का आदान-प्रदान अनिवार्य था। इसलिए सन् १८०० में वेलेजली के शासनकाल में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। विभिन्न भारतीय भाषाओं और वैज्ञानिक विषयों के अतिरिक्त नीति, न्याय, विधि इत्यादि की पढ़ाई की उसमें व्यवस्था हुई। इस कालेज की भाषा विषयक नीति और व्यवहार का यदि विवरण देखा जाय तो उससे दो बातें स्पष्ट होंगी, पहली बात यह है कि आरंभ में इस संस्था के लोगों में भाषा के विषय में बड़ी भ्रांति-सी थी; और वे हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी, रेखता, उर्दवी आदि के यथार्थ रूप को ठीक पकड़ नहीं पा रहे थे अथवा तत्कालीन भारतीय भाषाओं के प्राध्यापक जान गिल क्राइस्ट की हिन्दी-विद्वेषी नीति के कारण भाषा का सामान्य स्वरूप ही स्थिर नहीं हो पा रहा था और दूसरी बात यह थी कि जो भाषा अपनी स्वतंत्र-

गति से चलकर गद्यरचना के क्षेत्र में प्रवेश पा चुकी थी उसके स्वरूप की रक्षा और प्रसार की ओर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। इस कालेज के जीवन-काल के पूर्वार्ध (१८०० से १८१५ तक) में हिन्दी का सुस्थिर रूप नहीं स्पष्ट हो सका था और हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का गड़बड़झाला चलता रहा पर उत्तरार्ध (१८१५ से १८५४ तक) में आ कर आधुनिक अभिप्राय के अनुसार हिन्दी की मान्यता स्वीकृत हुई। यों तो इस कालेज-शासन के भीतर हिन्दी खड़ी बोली के उत्कर्ष के लिए अनेक महानुभावों ने चेष्टा की पर मुख्य रूप में जिनका कृतित्व अधिक स्वीकृत हुआ है वे लल्लूलाल और सदलमिश्र थे।

यों तो लल्लूलाल (सन् १७६३-१८२५) की अनेक रचनाओं का उल्लेख हुआ है पर उनकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण 'प्रेमसागर' है जिसमें भागवत के दशम स्कन्ध की प्रमुख कथाएँ हैं। भाषा की दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्त्व है। इनकी भाषा में नियंत्रण और व्यवस्था का पूर्ण अभाव होते हुए भी शब्द-चयन के विचार से वह धनी ज्ञात होती है। तत्सम शब्दों का प्रयोग उसमें अधिक हुआ है परन्तु देशज अथवा तद्भव शब्दों की भी कमी नहीं दिखाई देती। कथावार्ताओं में इस कोटि की भाषा का प्रयोग उस समय अच्छा मालूम पड़ा और पीछे चलकर ईसाइयों की रचनाओं पर उसका प्रभाव व्यापक रूप में देखा गया। उसमें सामान्यतः अरबी-फारसी की शब्दावली का प्रयोग बचाया गया है पर 'वैरख' ऐसे विदेशी शब्दों का प्रवेश यदाकदा मिलता है। ब्रजभाषा की छाया सानुप्रासिकता तथा तुकांतमैत्री में सर्वत्र मिलती है। विविध प्रकार की शिथिलता होते हुए भी इनकी भाषा बड़ी मधुर है और स्थान-स्थान पर वर्णनात्मक चित्र अच्छे मिलते हैं। उन स्थलों पर प्रवाह और भाषा की गतिशीलता देखी जा सकती है। उदाहरण के रूप में उक्त विशेषताएँ देख लीजिए :—"ऐसे वे दोनों प्रिय प्यारी बतराय पुनि प्रीति बढ़ाय अनेक प्रकार से काम कलोल करने लगे और बिरही की पीर हरते। आगे पान की मिठाई, मोती माल की शीतलाई

और दीपज्योति की मन्दताई देख एक बार तो सब द्वार मूँद ऊषा बहुत घबराय घर में आय अति प्यार कर प्रिय को कण्ठ लगाय लेटी।"

—प्रेम सागर (ऊषा-अनिरुद्ध-संवाद)

सदलमिश्र की मुख्य रचना नासिकेतोपाख्यान है। संस्कृत-कथा का इसे अनुवाद समझना चाहिए। इसलिए इसमें कथा-प्रसार की कोई मौलिकता ढूँढ़ना व्यर्थ है। लल्लूलाल जी की अपेक्षा इनकी भाषा अधिक व्यावहारिक है। उसमें न तो ब्रजभाषापन है और न तुकांत-प्रियता। इसमें मुहावरों के प्रयोग का अवसर अधिक मिल सका है और प्रवाह भी अपने एक ढंग का है। कहीं-कहीं उर्दूवाला उलट-फेर अवश्य मिलता है पर वह पण्डिताऊपन से आक्रान्त रहने के कारण उभड़ नहीं सका है। अपेक्षाकृत मिश्रजी में बँगलापन भी दिखाई पड़ता है पर केवल शब्दों (गाछ, काँदना) तक ही परिमित है। स्थान-स्थान पर ऐसा भी मिलता है कि वाक्य असंपूर्ण अवस्था में छोड़ दिए गए हैं। अंतिम क्रियापद का यह अभाव बहुत खटकता है। 'और' के लिए 'औ' तथा 'वो' दोनों रूप प्रयुक्त मिलते हैं। सामान्यतः इनकी भाषा अनियंत्रित और व्यवस्थाविहीन ही कही जायगी पर भाव-प्रकाशन की पद्धति आकर्षक है। तत्सम शब्दों का अधिक उपयोग होने पर भी तद्भव एवं प्रादेशिक शब्दों की भरमार मिलती है। भाषा-विषयक ये दुर्बलताएँ सर्वत्र एक सी नहीं हैं; कहीं-कहीं उसका संयत और सुचारु रूप भी दिखाई पड़ता है; जैसे :—"उस वन में व्याघ्र और सिंह के भय से वह अकेली कमल के समान चंचल नेत्रवाली व्याकुल हो ऊँचे स्वर से रो रो कर कहने लगी कि अरे विधना ! तैंने यह क्या किया ? और बिछुरी हुई हरिनी के समान चारों ओर देखने लगी। उसी समय एक ऋषि जो सत्यधर्म में रत थे इंधन के लिए वहाँ जा निकले।"

जब कि एक ओर मुंशी सदासुखलाल एवं इंशाअल्लाखाँ और दूसरी ओर लल्लूलाल तथा सदलमिश्र अपनी अपनी व्यक्तिगत शैली में गद्य का निर्माण कर रहे थे—ईसाइयों का दल अपने धर्मप्रचार में संलग्न था।

उन लोगों ने देखा कि जिस कोटि की जनता के बीच उन्हें प्रचार कार्य करना है वह अपेक्षाकृत खड़ी बोली अधिक समझती है। अतएव उन्होंने अरबी-फारसी मिली हुई उर्दू भाषा का त्याग कर विशुद्ध खड़ी बोली को अपनाया। संवत् १८७५ में जब ईसाइयों की धर्मपुस्तक का अनुवाद हिन्दी भाषा में हुआ तो बोलचाल में आने वाली खड़ी बोली ही व्यवहार में लाई गई; साथ ही 'लौं', 'जून', 'सेंत', 'पटुका' आदि ग्रामीण शब्दों को तो ले लिया पर अरबी-फारसी के शब्दों का प्रायः बहिष्कार-सा किया। यदि विचार कर देखा जाय तो विशुद्धता शब्दों तक ही परिमित नहीं थी वरन् भावभंगी और वाक्य-योजना तक एकरूप दिखाई पड़ती है।

ईसाइयों की प्रेरणा से लिखी गई जो पाठ्य पुस्तकें अथवा वाद-विवाद से आपूर्ण धार्मिक-ग्रंथ उस समय प्रकाशित हुए, उनके लेखक प्रायः भारतीय पंडित थे। सरकारी प्रभाव-सीमा से पृथक् रह कर ये लेखक व्यवहार में गृहीत खड़ी बोली का ही उपयोग करते थे। वह भाषा पण्डिताऊपन से तो पूर्ण थी पर फारसी-प्रभाव से सर्वथा दूर बनी रही। उसमें 'ऐकार' और 'औकार' की अथवा 'वकार' और 'सकार' की एकांगिता मिलती है और कहीं-कहीं वाक्य के वाक्य पंडिताऊ ढंग के दिखाई पड़ते हैं; जैसे—'तिस पीछै सर्व्वसाधारण मंगलीक विषय में एकमता हुआ।' 'समुद्र को वह पायों पायों उतर गया।' 'जो जाति वहाँ के लोगों को शिक्षा करती रहती हैं।' इस प्रकार के अथवा इसी प्रकार के अन्य दोषों के रहते हुए भी ईसाइयों की यह भाषा अतीव गतिशील मालूम पड़ी और उसने गद्य में लिखने का एक ढर्रा बनाया। और यह ढर्रा तर्क-वितर्क, खंडन-मंडन तथा तर्क-संगत वाद-विवाद के क्षेत्र में आकर अधिक बलिष्ठ और परिष्कृत बन गया। इस शैली की रचनाओं में वाक्यों का विस्तार बढ़ा दिखाई पड़ेगा; विरामादि चिह्नों का प्रयोग नहीं मिलेगा; 'और' तथा 'औ' की सहायता से वाक्यों का विस्तार भी निरर्थक बढ़ा मालूम पड़ेगा। ऐसे स्थलों पर व्यावहारिकता के स्थान पर संस्कृत की तत्समता उभड़ी मिलेगी।

"फिर वेदान्ति लोग अनित्य और मिथ्या इन दो पदार्थों का संकर कर के और मिला के कहते हैं कि ज्ञान के उपजने पर अज्ञान और दुःख जाते रहते हैं इसलिए अज्ञान और दुःख असत् पदार्थ हैं पर यह बड़ी भूल है हाँ उसको अनित्य कहो पर मिथ्या नहीं मिथ्या बुह है जो है ही नहीं और अनित्य बुह है जो है पर नष्ट होगा देखो जब कोई विद्यार्थी किसी विद्या के पढ़ने को आता है तब उसको उस विद्या के विषय में अज्ञान रहता है और जब उसे पढ़ाते हो तब उसका अज्ञान नष्ट होता है तो क्या इससे यह सिद्ध होता है कि उसको पढ़ने के पहिले भी अज्ञान न था यदि ऐसा ही था तो काहे को उसको पढ़ाया"—(पादरी मेथर साहिब द्वारा मिर्जापुर में सन् १८५३ ईसवी में प्रकाशित "वेदान्त मत विचार और खृष्ट मत का सार", पृष्ठ—१७)

"जब यह नाव बन चुकी तो ईश्वर ने उसे आज्ञा की कि तुम अपने कुटुंब को अर्थात् आठ जने तुम्हारी स्त्री तुम्हारे तीनों पुत्र औ उनकी स्त्रियाँ और एक एक जोड़ा सब जीवों का इसमें रखकै बचाओ। जब ये सब इनमें बैठ चुके, तब बड़े बड़े सोत पृथ्वी से आगे, और आकाश से मेह मूसलाधार चालीस दिन और रात लगातार बरसता रहा, जब तक सब से बड़ पहाड़ जल में न डूबे और सब जीव जन्तु न मरे। तिस पीछे ईश्वर प्रसन्न हुए, मेंह थँमा, और जल अपने ठिकाने सिर लगा औ नूहने अपने कुटुंब समेत उसमें से निकल पृथ्वी पर आ ईश्वर के निमित्त बलिदान दिया।"— (पण्डित रतनलाल द्वारा लिखित और आगरा स्कूल बुक सोसाइटी द्वारा दिसम्बर सन् ईसवी १८३६ में प्रकाशित—'कथा-सार' पृ० ३)

उक्त दोनों उद्धरण दो भिन्न प्रकार की रचनाओं से लिए गए हैं। पहला शुद्ध धार्मिक ग्रंथ से है और दूसरा पाठ्यग्रंथ में से लिया गया है। इनमें फारसीपन के बचाव और हिन्दी के निखालिसपन का रूप देखा जा सकता है। इसे उस समय की प्रतिनिधि भाषा के रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। भले ही इसमें

पंडिताऊपन की अधिकता दिखाई पड़े पर इससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि तर्क-संगत वाद-विवाद के भार को वहन करने की क्षमता इसमें उत्पन्न हो चली थी। विभिन्न विषयों की जो पुस्तकें उस समय छपती गईं उनमें इसी प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई थी। अतएव यह कथन अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि विषयों में निरंतर प्रयुक्त होने के कारण भाषा में एकस्वरता और संगठन का रूप स्थिर-सा होने लगा था और उसमें विभिन्न प्रकारों के विचारों एवं भावों को प्रकट करने की क्षमता बढ़ने लगी थी। अब वह केवल कथा-कहानी की परिस्थिति में ही आबद्ध न रह कर तथ्यातथ्य-निरूपण, वादविवाद और आलोचना में भी व्यवहृत होने लगी थी।

एक ओर ईसाइयों के धर्मप्रचार का आन्दोलन जोरों पर था और उसके संबंध की अनेक पुस्तकें विविध भारतीय भाषाओं और प्रादेशिक बोलियों में निरंतर निकलती गईं; दूसरी ओर सरकारी मदरसे और पाठशालाएँ स्थापित हुईं, जिनमें अध्ययन-अध्यापन की पूरी व्यवस्था स्थापित हो गई। इस प्रकार शिक्षा के प्रसार का कार्य भी बढ़ चला। अब उसके लिए पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता सामने आई। इस क्षेत्र में भी ईसाई धर्मप्रचारकों ने बड़ा काम किया और आगरे के पादरियों की 'स्कूल बुक सोसाइटी' ने इतिहास, भूगोल आदि के अतिरिक्त विज्ञान विषयक कई पुस्तकें लिखवाईं और छापीं। इसी तरह मिर्जापुर के ईसाइयों के 'आरफेन प्रेस' में शेरिंग साहब ने भी पठन-पाठन से संबंध रखने वाली बहुत सी पुस्तकें छापीं। यों तो अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों से ही ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में अंगरेजी भाषा के प्रचार की व्यवस्था पर विचार करने लगी थी पर लार्ड मेकाले की बलवती प्रेरणा के परिणाम स्वरूप ७ मार्च सन् १८३५ में कंपनी सरकार ने अंगरेजी शिक्षा के प्रसार की योजना स्वीकार कर ली और उसके बाद अंगरेजी स्कूलों का प्रचलन निरंतर बढ़ता ही गया। इस विषय में इतना तो अवश्य ही मानना होगा कि शिक्षा-प्रसार की इस योजना ने और

ईसाइयों के धार्मिक आन्दोलन ने हिन्दी-गद्य के विस्तार में बड़ा योग दिया। सामान्य रूप में जो कार्य पचासों वर्षों में संपादित होता वह कुछ ही वर्षों में हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध साहित्यिक विकास का काल नहीं भाषा-प्रसार का काल है। इसे हिन्दी-गद्य-साहित्य का आमुख मानना चाहिए।

ई० सन् १८३६ तक ईस्ट इण्डिया कंपनी के कार्यालयों और न्यायालयों में फारसी भाषा चलती रही। पर शासकवर्ग को इस बात का अनुभव हुआ कि सामान्य जनता को इससे कठिनाई होती है। अतएव सरकार ने सन् १८३६ में 'इश्तहार नामे' निकाले और सूचित किया कि न्यायविभाग का सब काम देश की प्रचलित भाषा में किया जाय। संयुक्त (उत्तर) प्रदेश के सदर बोर्ड की ओर से जो इश्तहारनामा निकला था उसका कुछ अंश इस प्रकार था—"पच्छाँह के सदरबोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम फारसी जवान में लिखापढ़ी होने से सब लोगों बहुत हर्ज पड़ता है·····इसलिए हुक्म दिया गया है कि सन् १२४४ की कुँवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदरबोर्ड में हो सो अपना-अपना सवाल हिन्दी की बोली में और फारसी कै नागरी अच्छरन में लिख के दाखिल करे कि डाकघर भेजे और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन में और हिन्दी बोली में उस पर हुक्म लिखा जायगा। मिती २६ जुलाई सन् १८३६ ई०।"* इस इश्तहारनामे के अनुसार कार्य होने लगा। पर यह व्यवस्था अधिक दिनों चल नहीं पाई, क्योंकि विरोधियों ने बड़ा कोहराम मचाया। परिणाम यह हुआ कि दूसरे ही वर्ष पुनः अदालती भाषा उर्दू हो गई और क्रमशः नागरी लिपि भी लुप्त होती गई। यों तो आगे भी सीधी भाषा और नागरी अक्षरों में कानूनों और सरकारी आज्ञाओं के हिन्दी अनुवाद छपते रहे।

हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (२००२) पृ० १७४।

जिस समय कंपनी सरकार ने देशी भाषाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था की ओर ध्यान दिया और विचार करने लगी कि जगह-जगह जो मदरसे खुल रहे हैं उनमें हिन्दी का पढ़ना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक रखा जाय, उस समय प्रभावशाली विरोधियों की ओर से गहरा अड़ंगा लगाया गया। अदालती संसार में उन्हें जो सफलता मिल चुकी थी उसके कारण उनका हौसला बढ़ा हुआ था। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १८४८ में तो यह योजना ही ठप हो गई पर पुनः सन् १८५४ में जब यह कार्य नए सिरे से उठाया गया तो शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी को भी स्थान देना ही पड़ा। हिन्दी में काव्य-साहित्य की प्रभूत सामग्री तो थी ही, अतः उसकी उपेक्षा न की जा सकी। पर गद्य के विषय में भारतेन्दु के युग तक खींचतान चलती रही। हिन्दी-गद्य के इसी विकास-स्थल में हमें राजा शिवप्रसाद के दर्शन होते हैं। राजा साहब का महत्त्व दोनों रूपों में स्वीकार करना चाहिए—भाषासुधारक की दृष्टि से और साहित्य-निर्माता के रूप में भी। वे शिक्षा-विभाग में निरीक्षक पद पर काम करते रहे और उस समय के शिक्षा-संबंधी विशेषज्ञों में उनको मान्यता प्राप्त थी। शिक्षा में हिन्दी की प्रवेश-सीमा का विस्तार हो इसके वे पक्के और जोरदार हिमायती थे। हिन्दी-विरोधियों का सामना जिस तत्परता से उस समय उन्होंने किया वह गद्य के प्रसार में महत्त्व की वस्तु बनी रहेगी। उन्होंने सामान्यतः पठन-पाठन संबंधी पुस्तकें अधिक लिखी हैं; जैसे—'इतिहास तिमिर नाशक', 'पुराने राजाओं का हाल', सिक्खों का उदय और अस्त', 'भूगोल हस्तामलक' आदि।

राजा साहब का विशेष विचार भाषा के क्षेत्र में होना चाहिए। आरम्भ में वह नितांत व्यावहारिक और चलती हिन्दी के पक्षपाती थे और स्वयं 'राजा भोज का सपना' जैसी रचना करते थे। इस गद्य-कृति के भीतर 'आम-फ़हम' भाषा का बड़ा साफ उदाहरण मिलता है, जैसे—"वह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत् में व्याप रही

है। बड़े-बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते हैं और बड़े-बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते हैं। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोने-चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया।" राजनीतिक आग्रहों से स्वच्छन्द होने पर राजा साहब की अपनी शैली यही थी। इसमें नितांत चलते एवं व्यावहारिक हिन्दी-फारसी के शब्दों का सुन्दर मेल अच्छी तरह से बैठाया गया है। वस्तुतः इस प्रकार की शैली की अपनी उपयोगिता का विकास निरंतर होता गया है और देवकीनन्दन खत्री तथा प्रेमचन्द के काल को पार करता हुआ आज भी यह समादृत-सा बना है। परन्तु भाषा का यह प्रकृत सौन्दर्य राजा साहब में स्थिर नहीं रह सका। इसका कारण हिन्दी-विरोधियों की आक्रमणशील नीति और सरकारी दबाव था। जो कुछ भी रहा हो उत्तरोत्तर उनकी भाषा का रूप बिगड़ता गया और उसमें उर्दूपन की छाप बढ़ती गई; यहाँ तक कि पीछे की उनकी सभी रचनाओं में निखालिस उर्दू का ही रूप स्थापित हो गया है। 'सिक्खों का उदय और अस्त' अथवा 'इतिहास तिमिर नाशक' शीर्षक उनकी कृतियों में कहीं भी इस शैली का स्वरूप देखा जा सकता है। उक्त दोनों शैलियों के अतिरिक्त एक तीसरा रूप भी मिलता है जो 'योग वाशिष्ठ' अथवा 'उपनिषद्सार' में प्रयुक्त हुआ है, पर उस संस्कृत की घोर तत्समता में राजा साहब का अपनापन कुछ नहीं मानना चाहिए।

यदि राजा शिवप्रसाद के भाषा-विषयक सिद्धान्त का थोड़े में सारांश निकाला जाय तो उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार होगा—"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम-फहम और खास-पसंद हों अर्थात् जिनको ज़ियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े-लिखे आलिम फाजिल, पंडित, विद्वान की बोलचाल में छोड़े नहीं गए हैं और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज गैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए और न संस्कृत की

टकसाल कायम करके नए-नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिएँ।"

राजा लक्ष्मणसिंह—भाषा-विवाद के इस पहलू का उत्तर दूसरे राजा ने उपस्थित किया। रघुवंश के अपने गद्यानुवाद के प्राक्कथन में राजा लक्ष्मणसिंह ने अपना जो अभिमत प्रकट किया है वह पहले राजा के ठीक उत्तर रूप में माना जायगा और उसको ऐतिहासिक महत्त्व की बात मानना होगा। उनका स्पष्ट कथन इस प्रकार है;—"हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी पारसी के। परन्तु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी पारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी पारसी के शब्द भरे हों।" उक्त दोनों उद्धरणों को साथ रखने का अभिप्राय केवल इतना ही समझना चाहिए कि आगे चलकर राजनीतिक फेरफार के कारण जो विवाद 'हिन्दुस्तानी' के रूप में हमारे सामने उपस्थित हुआ उसका मूल प्राचीन था। राजा लक्ष्मणसिंह अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन तो निरंतर करते ही थे, साथ ही व्यवहार के क्षेत्र में भी उन्होंने इसका निर्वाह योग्यतापूर्वक किया है। अभिज्ञान-शाकुंतल एवं रघुवंश आदि के अनुवादों में उसकी सफलता देखी जा सकती है। जैसे,—"महात्मा! तुम्हारे मधुर बचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो? क्या कारन है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है?" राजा साहब की यह शैली अपनी सफाई और प्रवाह में स्वयं आदर्श थी और यदि इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ होता तो शुद्ध भाषा का अपना एक व्यावहारिक रूप आज सफलता से व्यवहृत दिखाई पड़ता।

समाचार-पत्र—हिन्दी-गद्य के इस प्रसार-युग में समाचार पत्रों के प्रकाशन से बड़ी सहायता मिली। इनसे जनता के बीच तक हिन्दी के रूप को पहुँचाने में योग मिला और लोगों में कुछ जागरण का काम भी हुआ। सन् १८२६ में सर्वप्रथम कलकत्ते से 'उदन्तमार्तण्ड' प्रकाशित हुआ। भले ही वह एक वर्ष के उपरांत बन्द हो गया पर इससे हिन्दी में समाचार-प्रकाशन का मार्ग अवश्य खुल गया। राजा राममोहन राय की प्रेरणा से सन् १८२९ में 'बंगदूत' निकलने लगा। सन् १८४४ में राजा शिवप्रसाद की देखरेख में काशी से 'बनारस अखबार' निकला। इसकी भाषा उर्दू और लिपि नागरी रहती थी; यों तो कहीं-कहीं 'धर्मात्मा' और 'परमेश्वर' ऐसे शब्द भी प्रयुक्त होते रहते थे। इसके उर्दूपन को नापसन्द करने से तारामोहन मित्र आदि ने सन् १८५० में दूसरा पत्र 'सुधाकर' निकाला। इसके दो वर्ष बाद आगरे से मुंशी सदासुखलाल के सम्पादकत्व में 'बुद्धिप्रकाश' प्रकाशित हुआ और कई वर्षों तक निकलता रहा। आगे चल कर यहीं से राजा लक्ष्मणसिंह सन् १८६१ में 'प्रजा हितैषी' निकालने लगे। ईसाइयों ने भी आगरे से सन् १८६३ में 'लोकमित्र' नामक पत्र निकाला जिसकी भाषा पूर्णतः हिन्दी रहती थी। इस प्रकार कुछ वर्षों के भीतर ही अनेक समाचार पत्रों के प्रकाशन से गद्य-लिखने-पढ़ने का व्यापक प्रसार हो गया और आगे के लिए लोगों का धड़का खुल गया।

धार्मिक आन्दोलन—चारों ओर ईसाई धर्मप्रचारकों की कर्मठता से प्रेरणा ग्रहण कर और उनके धार्मिक प्रभाव की व्यापक बढ़ती को रोकने के लिए उस समय सम्पूर्ण उत्तरी भूभाग में एक नवीन चेतना जाग उठी थी। पंजाब से लेकर बंगाल तक समान रूप से लोगों का ध्यान इस संकट की ओर गया। लोगों के इस प्रकार जागने से हिन्दी-गद्य के विस्तार को बड़ा उत्तेजन मिला और जो कार्य पचास वर्षों में भी कठिनाई से हो पाता वह थोड़े समय में ही सिद्ध हो गया। इसी प्रकार का योग कुछ पहले ईसाई धर्म-प्रचारकों से मिला था पर शिक्षा-प्रचार और हिन्दी-

उर्दू की खींचतान के कारण वह योग कुछ दुर्बल पड़ चला था। नवीन लहर एवं नवीन उत्तेजन की आवश्यकता थी और वह पूरी हुई आर्य-समाज के व्यापक आन्दोलन से। चारों ओर ईसाई लोगों के धर्म-प्रचार के कारण कुछ शिक्षित और कुछ उपेक्षित वर्ग के भारतीयों का आकर्षण उधर बढ़ता देख कर स्वामी दयानन्द (१८२४–१८८३) ने जो कर्मठता दिखाई वह केवल धर्म के क्षेत्र में ही स्तुति की चीज़ नहीं हुई वरन् उसका व्यापक प्रभाव हिन्दी-गद्य की गतिविधि पर भी पड़ा। समस्त पंजाब में स्वामी जी के व्याख्यानों की धूम मच गई। इन व्याख्यानों की भाषा तत्कालीन जनता में प्रचलित व्यावहारिक शुद्ध हिन्दी ही होती थी। स्वामीजी ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' को हिन्दी में लिखा और निरंतर अपने लेखों, पत्रों और अन्य प्रचार कार्य में उसी भाषा का प्रयोग करते रहे। अपने सभी अनुयायियों और धर्म-प्रचारकों के लिए हिन्दी का ज्ञान आवश्यक कर दिया। पंजाबी बोली में उस समय तक साहित्य-सर्जना का कार्य अधिक नहीं फैला था इसलिए सामान्यतः वहाँ वाले उर्दू की ओर झुक चले थे। स्वामीजी के आर्यसमाज-आन्दोलन ने ही पंजाब और उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में हिन्दी की जड़ जमाई। स्वामीजी के अतिरिक्त उस समय के ईसाई-प्रभाव को मूर्च्छित करने में जिस दूसरे सुधारक ने महत्त्व का कार्य किया वे थे पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी। उनकी वाणी में जादू भरा था। वे धार्मिक आन्दोलन के रूप बन गए थे। उनकी वक्तृताएँ, रामायण-महाभारत की कथाएँ, उपदेशों और प्रवचनों में अद्‌भुत आकर्षण भरा रहता था। लोग मंत्रमुग्ध हो कर उनकी बातें सुनते थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर धर्मसभाएँ स्थापित कीं और उपदेशकों की व्यवस्था की। जीवन के अंतिम क्षणों तक उनकी यही धुन चलती रही। इन दोनों महापुरुषों के प्रयास से सारा पंजाब और उत्तर प्रदेश ईसाइयों के चंगुल से छूट गया।

जिस प्रकार का कार्य पंजाब में स्वामी दयानन्द और पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने किया उसी ढंग से बंगाल में राजा राममोहन राय और उनके

अन्य अनेक अनुयायियों ने किया। हिन्दू शास्त्र और धर्म की सामान्य स्थूल बातों को ले कर निरंतर ईसाई प्रचारक नाना प्रकार के वितण्डा उपस्थित करते थे और अपने धर्म-तत्त्वों की गंभीरता से अनभिज्ञ नए पढ़े-लिखे लोग प्रभावित हो जाते थे। इस हीनता को सर्वथा दूर करने के अभिप्राय से और भारतीय चिंतनधारा की मौलिकता का परिचय देने के लिए राय महोदय मूर्तिपूजा, छूआछूत, जातिपाँति-भेद आदि की ऊपरी बातों को छोड़ कर भारत के उपनिषत् और वेदांत के शुद्ध ब्रह्मज्ञान की बातों को सामने ले आए और ब्राह्मसमाज के माध्यम से ज्ञानमूलक उपासना-पद्धति का प्रवर्तन करने लगे। इसी के समर्थन के लिए ब्रह्म-सूत्रों का हिन्दी में विस्तार-प्रसार किया। पहले कहा जा चुका है कि इन्होंने एक समाचार पत्र 'बंगदूत' भी हिन्दी में निकाला। उनके वेदान्त भाष्य की भाषा का जो उदाहरण पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में दिया है उसमें बँगलापन के रहते हुए भी सफाई दिखाई पड़ती है;—"जो ब्राह्मण सांगवेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं, यह प्रमाण करने की इच्छा कर के ब्राह्मण-धर्म-परायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री जी ने जो पत्र सांग-वेदाध्ययन-विहीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययनहीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं।"

अंत में आ कर यदि सभी बातों का सारांश एकत्र किया जाय तो कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में वे सभी स्थितियाँ सामने आ चुकी थीं जिनके आधार पर नूतन युग की अवतारणा संभव होती है। भाषा-प्रसार के अनेक कारण उत्पन्न हो चुके थे—गद्य में स्वच्छन्दता से प्रयुक्त हो सकने वाली किसी बलवती भाषा की आवश्यकता का अनुभव सभी वर्ग के लोग कर रहे थे; अधिकांश लोगों में प्रचलित हिन्दी की खड़ी बोली को स्वीकृति मिल चुकी थी और शिक्षा संबंधी पुस्तकों में उसका अधिकाधिक प्रवेश होने लगा था। छापेखाने का प्रचलन हो ही चुका था और यातायात के साधन भी बढ़ रहे ।

समाचार पत्रों का प्रकाशन होने लगा था और ऐसी ही अन्य अनेक सुविधाएँ सामने आ चुकी थीं जिनसे गद्यात्मक रचनाओं का निर्माण शीघ्रता से हो सकता था। आवेगयुक्त भावों एवं विचारों के आदान-प्रदान में चल कर ही किसी भाषा में निखार उत्पन्न होता है और इस दृष्टि से ईसाई, आर्य-समाज और ब्राह्मसमाजियों की खण्डन-मण्डन वाली प्रगति सहायक बन चुकी थी। परिणाम स्वरूप हिन्दी का गद्य अपना कलेवर सँवारने लगा था और उसमें कुछ स्थिरता और एक-रूपता का आभास मिलने लगा था। अब आवश्यकता इस बात की दिखाई पड़ती थी कि कोई ऐसा विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्ति साहित्य के क्षेत्र में अवतीर्ण हो जो इस समय तक की बिखरी समस्त शक्तियों को संघटित कर के साहित्य-निर्मिति के भव्य मार्ग का नियंत्रण करे और व्यावहारिक रूप में ऐसी क्रियाशीलता को स्फुटित एवं जागरित करे जो मंगलमय भविष्य का विधान उपस्थित कर सके। इसी महत्त्वपूर्ण अवसर पर हिन्दी के साहित्याकाश में भारतेन्दु का उदय हुआ।

गद्य का प्रथम उत्थान

(१८५०—१९००)

कीर्तिस्तंभ व्यक्ति किसी काल-विशेष की प्रमुख प्रवृत्तियों के प्रधान प्रेरक अथवा प्रवर्तक होते हैं। इस कथन का साहित्य में भी उसी प्रकार महत्त्व है जिस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जगत् में। समय-समय पर जो मनोयोगी समाज के संचालन में योग देते हैं वे अपने चतुर्दिक् की समस्त परिस्थितियों को ठीक से समझते हैं और तब आवश्यकता के अनुसार आदर्श मार्ग का निर्माण कर लेते हैं। समाज भी अपनी प्रवृत्तियों के अनुरूप साफ-सुथरे मार्ग को पा कर उत्साहपूर्वक उसपर चलने की चेष्टा करता है और अपनी रूढ़िगत भावनाओं में या तो परिष्कार उत्पन्न करता है अथवा उनके त्याग का प्रयत्न करता है। इस प्रकार के त्याग अथवा परिष्कार के लिए यथेष्ट समय की अपेक्षा होती है। जो महापुरुष जितने ही थोड़े दिनों में व्यापक परिवर्तन उपस्थित कर देता है उसका व्यक्तित्व उतना ही महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी (१८५०–१८८५) इसी कोटि के महापुरुषों में थे। उन्होंने अपने प्रतिभाबल और घोर अध्यवसाय से कुछ वर्षों में ही हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। राजनीतिक स्थिति, धार्मिक भावनाओं और सामाजिक दृष्टिकोण में आमूलतः विप्लव के लक्षण उत्पन्न हो चुके थे। सारा देश एक प्रकार के बौद्धिक संघर्ष के लिए प्रस्तुत था। पाश्चात्य और भारतीय मान्यताओं एवं संस्कृतियों की मुठभेड़ हो रही थी। विजेता और विजित में गहरे भेदभाव के चिह्न लक्षित होने लगे थे। दोनों में अपने-अपने पक्ष की चिंता उत्पन्न हो गई थी। एक प्रकार का सामूहिक तथा देशगत जागरण पूर्णतया व्याप उठा था। ऐसे समय में साहित्यिक क्रांति के नेता की तरह भारतेन्दु ने चेतना सँभालते ही सारी वस्तुस्थिति परख ली और

अपने दायित्व का भाव उनके भीतर पूरी तरह जाग उठा। उन्होंने देखा कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की सारी दौड़-धूप में चली आती हुई ब्रजनायिका मूर्छित पड़ी है और गद्य के लिए व्यापक प्रसार-भूमि तैयार हो चुकी है। इस यथार्थ के संकेत को उन्होंने समझ लिया, अतएव कविता के साथ-साथ उन्होंने गद्य-साहित्य की अभिवृद्धि को सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया।

यों तो कविता के क्षेत्र में भी भारतेन्दु का अपना कृतित्व और महत्त्व है पर गद्य के क्षेत्र में उनका विशेष प्राधान्य है। जिस समय भारतेन्दु जी ने रचना आरम्भ की उससे पूर्व भाषा का द्वन्द्व चल रहा था। आरम्भ में ही यह द्वन्द्व इंशाअल्ला खाँ और मुंशी सदासुखलाल में प्रकट हुआ था। उनके उपरांत राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के समय में इसने संघर्ष का रूप पकड़ा। अब भारतेन्दु के सामने यह प्रश्न खड़ा हुआ कि इस विषय की समुचित व्यवस्था किस रूप में की जाय। साहित्य में भी समय क्रांति और परिवर्तन का चल रहा था; इसलिए इस समय भाषा जिस ढर्रे पर चल पड़ेगी वह भविष्य की गतिविधि के नियंत्रण का काम करेगी—इस गंभीरता की ओर भारतेन्दु का ध्यान गया और वे अपने को संघर्ष में न डाल कर एक नूतन मार्ग के आविष्कार और ग्रहण की ओर झुके। उन्होंने अपने को दोनों राजाओं की सीमा से मुक्त रखा और भाषा के मध्यम मार्ग को ही साहित्य-सर्जना के लिए अधिक व्यावहारिक एवं मंगलमय माना। यदि केवल गद्य-शैली के इस नवीन और स्थिर स्वरूप का ही विचार किया जाय तो वर्तमान हिन्दी-समृद्धि के जन्मदाता के रूप में भारतेन्दु को स्वीकार करना पड़ेगा।

इस मध्यम मार्ग के ग्रहण का फल यह दिखाई पड़ा कि उनकी समस्त कृतियों में अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है पर केवल ऐसे ही शब्दों का जिनका रूप व्यवहार में बिलकुल मिलजुल गया है। ऐसे शब्द प्रयोग में आ कर यदि विकृत हो गए हैं तो उसी

रूप को स्वीकार किया गया है। कफन, कलेजा, जाफत, खजाना, जवाब, जंगल, मुर्दा आदि अनेकानेक शब्दों का प्रयोग उनकी भाषा में सर्वत्र मिलेगा। इसी तरह तद्भव और देशज शब्दों का भी स्वस्थ उपयोग स्वतंत्रता से किया गया है। भलेमानस, हिया, गुनी, आपुस, लच्छन, जोतिसी, आँचल, जोबन, अगनित, अचरज आदि शब्द कितने मधुर हैं और व्यवहार में कितने समीप हैं। लोकोक्तियों एवं मुहावरों के प्रयोग में भी भारतेन्दुजी ने बड़ी सफाई दिखाई है। इससे उनकी भाषा में चलतापन और स्वाभाविकता का अच्छा निखार आ गया है। भई, करके, कहाते हैं, ठगै, सुनै, करै आदि में पण्डिताऊपन की झलक भी विद्यमान मिलेगी। भाषा-विषयक यह आरम्भिक प्रयास उस समय बड़ा सफल दिखाई पड़ा। उसमें उर्दू ढंग के वाक्य-विन्यास और उलटफेर की प्रवृत्ति कहीं नहीं मिलती। इसी मिलेजुले प्रकार की शैली का उपयोग भारतेन्दु जी ने अपनी सभी रचनाओं में किया। इतना ही नहीं उनके मध्यम मार्ग वाले सिद्धान्त का अनुसरण उस समय के प्रायः सभी प्रतिष्ठित लेखकों ने किया और इस प्रकार भाषा के प्रयोग और उसकी गतिविधि में नियंत्रण उत्पन्न हुआ।

यों तो प्रसंग के अनुसार भारतेन्दु ने कई प्रकार की शैलियों का उपयोग किया है पर उनकी प्रतिनिधि शैली वही माननी चाहिए जिसमें फारसी और संस्कृत के नितांत व्यावहारिक और चलते शब्दों की प्रकृत मिलावट दिखाई पड़े, मुहावरों के प्रयोग बराबर सामने आएँ। वाक्यों की छुटाई और सीधापन मिलता चले। अभिप्राय-कथन एवं विषय-प्रतिपादन में स्वच्छता दिखाई पड़ती हो। प्रसंग और प्रकृति के अनुसार उनकी शैली में भिन्न-भिन्न भंगिमाएँ भी उत्पन्न होती गई हैं। वर्णनात्मक, भावात्मक आदि शैली-विषयक विविधता भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। भावात्मक शैली का निखार उनकी नाटिका चन्द्रावली में सर्वोत्तम दिखाई पड़ता है। उनकी विवरण उपस्थित करनेवाली शैली में भी पूरा आकर्षण रहता है···जैसे—"भूमि चारों ओर हरी-हरी हो रही है। नदी

नाले बावली तालाब सब भर गए। पक्षी लोग पर समेटे पत्तों की आड़ में चुपचाप सकपके से हो कर बैठे हैं। वीरबहूटी और जुगुनू पारी-पारी रात और दिन को इधर उधर बहुत दिखाई पड़ते हैं। नदियों के करारे धमाधम टूटकर गिरते हैं। सर्प निकल निकल अशरण से इधर उधर भागे फिरते हैं। मार्ग बन्द हो रहे हैं। परदेशी जो जिस नगर में हैं, वहीं पड़े-पड़े पछता रहे हैं, आगे बढ़ नहीं सकते। वियोगियों को तो मानो छोटा प्रलय काल ही आया है।" इसी प्रकार जहाँ भारतेन्दु ने कुछ विचार की बातें सामने रखी हैं वहाँ भी उनकी भाषा बड़ी प्रवाहमयी और परिष्कृत दिखाई पड़ती है। विषय के स्थापन अथवा निवेदन में जहाँ कुछ आवेश अथवा वेग मिल जाता है वहाँ की गतिशीलता विशेष रूप से पढ़ने लायक होती है। वाक्यों की छुटाई के साथ सीधापन और चलते व्यावहारिक शब्दों के साथ तद्भव रूपों का प्रकृत मेल इस शैली में कहीं भी देखा जा सकता है; जैसे—'संसार के जीवों की कैसी विलक्षण गति है। कोई नेम धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है, कोई मतमतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है। हर एक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है। कोई संसार को ही सर्वस्व मान कर परमार्थ से चिढ़ता है। कोई परमार्थ को ही परम पुरुषार्थ मानकर घरबार तृण सा छोड़ देता है। अपने-अपने रंग में सब रँगे हैं; जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है और उसी के खण्डन-मण्डन में वह जन्म बिताता है।"

इस प्रकार थोड़े में कहा जा सकता है कि भारतेन्दुजी ने गद्य-शैली के विभिन्न रूपों की नींव डाली और भाषा का एक परिमार्जित तथा चलता रूप स्थिर किया। उनका महत्त्व इसी में है कि उन्होंने अपने पूर्व की सभी भाषा संबंधी अव्यवस्थाओं को दूर किया और साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में व्यवहारतः चल सकने वाले रूप को एक निश्चित दशा में ला खड़ा किया। पठन-पाठन में और तद्विषयक पुस्तकों की रचनाओं में भाषा की इस व्यवस्था ने बड़ा योग दिया। दूसरी ओर

पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में भी इससे बड़ा उत्साह मिला। सच बात तो यह है कि भाषा का शिष्ट, सामान्य और चलता रूप निखारने में भारतेन्दु का कृतित्व ऐतिहासिक महत्त्व की चीज बन गया और आधुनिक गद्य के विकास में उसने नाना प्रकार से सहायता पहुँचाई।

भाषा संबंधी संस्कार और सुधार उपस्थित करने के अतिरिक्त गद्य-साहित्य की रूपरेखा सुस्पष्ट करने में भारतेन्दु का बड़ा हाथ था। उनके पूर्व प्रस्तावना रूप में केवल स्कूली पुस्तकें लिखी और छापी जा रही थीं और कुछ धार्मिक या पौराणिक आख्यानों का रूप दिखाई पड़ रहा था। इन चलते विषयों को छोड़ कर शुद्ध साहित्य के क्षेत्र के भीतर आने वाली रचनाएँ नहीं थीं। हरिश्चन्द्रजी ने स्वयं तो विभिन्न प्रकार के गद्यों का रूप उपस्थित किया ही, साथ ही निरंतर इस बात के प्रयास में लगे रहे कि नवीन साहित्यकारों का रूप सामने आए और शीघ्र ही गद्य का बहुमुखी प्रसार हो। तत्कालीन साहित्य-निर्माण पर उनके इस उत्साह एवं प्रेरणा का बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके साथ लेखकों का एक मण्डल तैयार हो गया। उसमें अनेक प्रतिष्ठित लेखक ऐसे थे जो उन्हें आदर्श मानकर सर्जन-कार्य में उन्हीं का अनुसरण करते थे। उस समय के लिखने वालों में प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, सुधाकर जी, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', जगमोहन सिंह, श्रीनिवास दास, केशवराय भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, दुर्गाप्रसाद मिश्र आदि प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त अंबिकादत्त व्यास, गोविन्दनारायण मिश्र, देवकी-नन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी, गदाधर सिंह, राधाकृष्णदास, लक्ष्मीशंकर मिश्र, रामकृष्ण वर्मा आदि विशिष्ट कृतिकार भी उसी वातावरण में स्वरूप संगठित कर रहे थे। इसके उपरांत तो लेखकों और रचनाओं की अपनी स्वतंत्र और अखंड परम्परा चल पड़ी। भारतेन्दु से प्रवाहित गद्य की यह सुधाधारा उत्तरोत्तर बलवती, विकसित एवं पीनकाय बनती गई।

पत्र-पत्रिकाएँ—पत्र-पत्रिकाओं का क्रम भी भारतेन्दुकाल में

अधिक प्रसारित हुआ। स्वयं 'भारतेन्दुजी' ने 'कविवचनसुधा' (१८६८), 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (१८७३), जो आगे चलकर 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' में परिणत हो गई, और बालाबोधिनी (१८७४) निकालनी आरंभ की। इनके साथ-साथ अन्य उत्साही भी विभिन्न स्थानों से अन्य समाचार-पत्र प्रकाशित करने लगे। सदानन्द सनवाल ने १८७१ में अलमोड़ा से 'अलमोड़ा अखबार', कार्तिकप्रसाद खत्री ने १८७२ में कलकत्ते से 'हिन्दी दीप्ति-प्रकाश', केशवराम भट्ट ने इसी साल बिहार से 'बिहार-बन्धु' और श्रीनिवासदास ने १८७४ में दिल्ली से 'सदादर्श' निकाला। इनके उपरांत फिर तो अनेकानेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। सन् १८७६ और १८८५ के भीतर प्रायः पचीस-तीस समाचार-पत्र और ऐसी पत्रिकाएँ निकलने लगीं जिनमें समाचारों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर छोटी-छोटी टिप्पणियों के साथ निबंध आदि अन्य साहित्यिक रचनाएँ भी स्थान पाती थीं। इन समाचार पत्रों में अनेक तो अल्पजीवी थे जो कुछ दिन चलकर समाप्त हो गए पर उनमें कुछ ऐसे भी थे जो अधिक दिनों तक काम करते रहे; जैसे—ब्राह्मण, आनन्द कादम्बिनी, हिन्दी-प्रदीप, उचितवक्ता, भारतमित्र और बिहार-बंधु। इनमें प्रथम तीन पत्र तो शुद्ध साहित्यिक थे जिनसे हिन्दी के आरंभिक निबन्धों और समालोचनाओं का उद्भव मानना चाहिए। उस समय के प्रायः सभी प्रमुख लेखक सम्पादक का कार्य करते थे।

उस काल की इन पत्र-पत्रिकाओं में सामान्यतः सभी प्रकार की रचनाओं के दर्शन होते रहते थे। कहीं समाचार-संग्रह रहता तो कहीं हास्य-विनोद, कहीं निबंध, तो कहीं आलोचना। ऐसी अवस्था में इन सम्पादक-लेखकों को विविध विषयों पर कुछ तुरन्त लिखने की क्षमता अपने में बनाए रखनी पड़ती थी। यही कारण है कि उनकी भाषाशैली में विविध-रूपता और चलतापन विशेष दिखाई पड़ता है और विषय-निवेदन में उत्साह और सजीवता भरी मिलती है। नित्य के जीवन के सम्पर्क में आने वाले नितांत व्यावहारिक विषयों पर आत्मीयतापूर्ण ढंग से कुछ कह लेने

में ये लेखक विशेष कुशल थे। इनकी भाषा-शैली में पण्डिताऊपन, प्रांतिकता और व्याकरण-च्युति भले ही मिले पर सजीवता, व्यक्तित्व की छाप और विनोदप्रियता अवश्य उभड़ी दिखाई पड़ेगी—इसी को लोगों ने 'जिन्दादिली' कहा है।

नाट्य-रचना का पूर्वरूप—भारतेन्दु युग के लेखकों, पत्र-पत्रिकाओं, भाषा-परिष्कार एवं गद्य-शैली का सामान्य और संक्षिप्त संकेत कर देने के उपरांत अब देखना है कि साहित्य-प्रणयन का कार्य हिन्दी में कब से आरंभ हुआ। यहाँ पूर्व की कुछ वस्तुस्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। संस्कृत भाषा में नाट्य-रचना की परंपरा जिस समय समाप्त हो चुकी थी उसके बहुत दिनों के बाद नए सिरे से हिन्दी में नाटक ग्रन्थों का आरम्भ हुआ। उसमें भी अनेक रचनाएँ ऐसी हैं जो शुद्ध काव्य की कोटि में आएँगी—उनके शीर्षक के साथ भले ही नाटक शब्द का योग मिलता हो। जैन कवि बनारसीदास का 'समयसार नाटक' प्राणचन्द चौहान का 'रामायण महानाटक', देवकृत 'देवमाया प्रपंच', नेवाज का 'शकुंतला', रघुराम नागर का 'सभासार', कृष्णजीवन लछीराम कृत 'करुणाभरण', हरिराम का 'जानकीराम-चरित नाटक बांधव नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंद रघुनंदन नाटक', बाबू गोपालचन्द्र का 'नहुष' इसी कोटि की कृतियाँ हैं।

अपने 'विद्यासुंदर' नाटक की द्वितीयावृत्ति के उपक्रम में भारतेन्दु जी ने भी अपने पूर्ववर्ती कुछ नाटकों का उल्लेख किया है। "निवाज का शकुंतला या ब्रजवासीदास का प्रबोधचन्द्रोदय नाटक नहीं काव्य हैं। इससे हिन्दी भाषा में नाटकों की गणना की जाय तो महाराज रघुराजसिंह का आनन्द-रघुनंदन और मेरे पिता का नहुष नाटक यही दो प्राचीन ग्रन्थ भाषा में वास्तविक नाटक मिलते हैं, यों नाम को तो देवमाया प्रपंच, समयसार इत्यादि कई भाषा-ग्रन्थों के पीछे नाटक शब्द लगा दिया गया है।" भारतेन्दु ने जिन दो को नाटक के रूप में स्वीकार किया है उनमें भी नाटक की रूपरेखा भले ही झलकती हो पर वे वस्तुतः

नाटक नहीं हैं क्योंकि उनमें न तो नाटकीय अवयवों का प्रयोग किया गया और न रचना-पद्धति में किसी प्रकार की स्थिरता दिखाई पड़ती है।

इन दोनों रचनाओं में प्रथम तो नाटकीय पद्धति पर लिखा काव्य है। उसमें काव्यपक्ष की विशेषताएँ अधिक मिलेंगी और नाट्य-रचना की अत्यंत न्यून। द्वितीय कृति अपूर्ण होने के कारण विचारक्षेत्र में नहीं आ पाती। ऐसी स्थिति में हिन्दी का प्रथम नाटककार भारतेन्दु बाबू-हरिश्चन्द्र को ही मानना चाहिए। भारतेन्दु ने केवल नाटक-रचना का आरंभ ही नहीं किया, उसकी नींव स्थिर कर दी। उनके अनूदित नाटकों में अथवा नाट्यांशों में रत्नावली, पाखण्ड-विडम्बन, धनंजय विजय, मुद्राराक्षस, कर्पूरमंजरी, भारत जननी, दुर्लभबंधु प्राप्त हैं। इनमें से दो नाटकों का खण्ड अनुवाद किया गया है। रत्नावली का केवल आरंभिक अंश, प्रबोध चन्द्रोदय का केवल तृतीय अंक अनूदित हैं। अनुवाद में स्वतंत्रता का पूरा उपयोग किया गया है पर मुख्य स्वरूप और रस में व्याघात नहीं पड़ने पाया है। सत्य हरिश्चन्द्र और विद्यासुन्दर ऐसे नाटकों का विचार मौलिक कृतियों के साथ होना चाहिए क्योंक मूल से इतना अधिक परिवर्तन किया गया मिलता है कि वे स्वतंत्र चीज़ें मालूम होती हैं।

भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी, विषस्य विषमौषधम्, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, सती प्रताप (अपूर्ण), प्रेम जोगिनी, नीलदेवी और चन्द्रावली भारतेन्दु की मौलिक रचनाएँ हैं। इनमें से प्रथम चार का अपना निर्दिष्ट लक्ष्य है। उनमें तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक वस्तुस्थिति का सच्चा पर्यालोचन मिलता है। सामाजिक कुरीतियों और पतन की, राजनीतिक उदासीनता और दुर्बलता की तथा धार्मिक पाखंड और हीनता की कठोर आलोचना उनमें की गई है। इन रचनाओं में कथानक की ऐसी सजावट की गई है कि युग की सभी प्रकार की दुर्बलताओं का उद्घाटन हो गया है। यों तो भारतेन्दु जी को जहाँ-कहीं

भी अवसर और अनुकूल स्थिति मिली है, उन्होंने युग के नेता की तरह 'उपधर्म छूटै', 'स्वत्व निज भारत गहै', 'कर दुख बहै', 'नारि नर सम होहिं' आदि जागरण की बातें अवश्य कही हैं पर उक्त नाटकों में तो उनका देशप्रेम और स्वाभिमान गरजता मिलता है। उस काल में इस प्रकार की ओजस्वी वाणी ने भविष्य का संकेत किया और कृतिकार की निर्भीकता का प्रमाण सामने आया। प्रेम जोगिनी में भी आधुनिक पाखण्डप्रियता पर नानाविधि आक्षेप और व्यंग्य-कथन हैं।

नीलदेवी में पंजाब के हिन्दू राजा पर मुसलमानों के आक्रमण और चढ़ाई की नाटकीय अवतारणा है। इसकी पृष्ठभूमि में ऐतिहासिकता के निर्वाह की आकांक्षा है। भारतेन्दु की सर्वोत्तम कृति चन्द्रावली नाटिका मानी जाती है—शास्त्रीय विधान के निर्वाह की दृष्टि से भी और कृतिकार के आत्माभिव्यंजन के विचार से भी। इस नाटिका में रतिभाव का जैसा स्थापन हुआ है उससे इतना तो अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने चन्द्रावली के प्रेम के द्वारा एक आदर्श की स्थापना की है। एकनिष्ठ प्रेम और निष्काम रति की जैसी कहानी इसमें कही गई है वह परमतत्त्व और पारमात्मिक प्रेम की ओर संकेत करती है। चन्द्रावली की ऐकान्तिक तन्मयता और आत्मसमर्पण में आध्यात्मिक पूर्णता झलकती है और वह लेखक की व्यक्तिगत भक्तिभावना का प्रतिनिधित्व करती है।

नाटकों के अतिरिक्त भी भारतेन्दुजी ने विविध कोटियों और विषयों के लेख और निबंध लिखे। हरिश्चन्द्र मैगजीन (चन्द्रिका), बालाबोधिनी आदि में प्रकाशित वर्णनात्मक, और संस्कृति-संबंधी लेख बराबर निकलते रहे। वैद्यनाथ की यात्रा आदि कई शुद्ध वर्णनात्मक निबंध भी पढ़ने लायक हैं। वस्तुतः निबंध-रचना के व्यवस्थित आरंभ-कर्ता भी वही माने जा सकते हैं। इतना ही नहीं स्वस्थ और शिष्ट हास्य-व्यंग्य की शैली भी उन्होंने ठीक से चलाई। यों तो उस समय के कई लेखकों में यह प्रवृत्ति पूर्णतया मुखरित थी पर भारतेन्दु के 'पाँचवें पैगम्बर' और 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' आदि अनेक लेखों

का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। जीवन-चरित्र से संबद्ध अनेक लेख उनके प्रकाशित हुए हैं और अनेक इतिहास-विषयक रचनाएँ की हैं, जैसे 'बादशाह दर्पण'। जीवनी के रूप में 'बीबी फातिमा' और 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' का स्वरूप देखा जा सकता है। इनमें उद्भावना और शैली की आत्माभिव्यंजकता का रूप देखा जा सकता है।

बालकृष्ण भट्ट (१८४४–१९१३) अपने समय के कर्मठ, अध्यवसायी, पठनशील और मेधावी लेखकों में थे। वे प्रयाग के निवासी, लोकमान्य तिलक के पक्के अनुयायी और मालवीयजी के घनिष्ठ साथियों में प्रमुख थे। अपने उग्र राजनीतिक विचारों के कारण ही कहा जा सकता है इन्हें (कायस्थ पाठशाला से) अध्यापकी तो छोड़नी ही पड़ी 'हिन्दी-प्रदीप' पत्र को भी बन्द करना पड़ा। जीवन के अंतिम काल में ये काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के 'हिन्दीशब्दसागर' में अनेक वर्षों तक सम्पादन-कार्य करते रहे। स्वभाव से विनोदप्रिय, हँसमुख और मस्त थे। छोटे-छोटे निबंध और लेख इनके अति प्रसिद्ध हैं। नाक, कान, आँख ऐसे नितांत व्यावहारिक और चलते विषयों पर इनके निबंध पढ़ने लायक हैं। इन रचनाओं में विषय-निवेदन की पद्धति रोचक, भाषा व्यावहारिक, वाक्य का विस्तार लघु और सीधा, व्यंग्य एवं परिहास का पुट सर्वत्र मिलता है। इनकी शैली में व्यक्तित्वपूर्ण निरालापन और आत्मीयता दिखाई पड़ती है; यों तो पूरबीपन, पण्डिताऊपन और व्याकरण की च्युति भी बराबर प्राप्त होती है। रचनाओं में कहावतों और मुहावरों का प्रयोग इन्हें विशेष प्रिय था। इनका और प्रतापनारायण मिश्र का जोड़ा हिन्दी में अमर हो गया है; शैली के विचार से भी और समय की प्रगति में पूर्ण योग देने के विचार से भी। निबंध-रचना के क्षेत्र में इन दोनों कृतिकारों का स्थान विशेष महत्त्व का माना जाता है। व्यक्तिप्रधान निबंधों के ये जन्मदाता थे।

अन्य अनेक पत्रों में लिखते रहने के अतिरिक्त तीस-बत्तीस वर्षों तक प्रकाशित होते रहने वाले अपने पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' में इन्होंने लेखों,

निबंधों और अन्य प्रकार की रचनाओं की अपार सृष्टि की है। छोटे-मोटे बहुत से नाटक और प्रहसन इन्होंने लिखे हैं और माइकेल मधुसूदन दत्त के उपन्यासों—पद्मावती, शर्मिष्ठा का अनुवाद भी किया है। इनके मौलिक अपने रचे भी दो प्रसिद्ध उपन्यास थे—नूतन ब्रह्मचारी (हिन्दी प्रदीप १८७७) और 'सौ अजान और एक सुजान'। कथानक दोनों का नितांत साधारण और व्यावहारिक है। इनके नाटकों में कुछ तो पौराणिक आख्यानों पर आधारित हैं, जैसे—चन्द्रसेन, दमयन्ती स्वयंवर, पृथु चरित्र आदि, एवं अन्य युगानुरूप विषय-सामग्री को ले कर चले हैं, जैसे—कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बालविवाह आदि। इस प्रकार थोड़े में देखा जा सकता है कि भट्ट जी ने विविध प्रकार के विषयों पर निबंध, लेख, उपन्यास, अनुवाद, नाटक, प्रहसन बहुत लिखे हैं। एक शब्द में यदि कहें तो अपने समय के ये उद्भट लेखक और सम्पादक थे। लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगता स्वयंवर' नाटक की आलोचना भी इन्होंने 'सच्ची समालोचना' शीर्षक से निकाली थी। आलोचना के क्षेत्र में भी इस तरह उन्होंने महत्त्व का कार्य किया। उनको आलोचना का आरम्भकर्ता मानना चाहिए।

काशीनाथ खत्री (१८४६–१८६१) आगरे के रहने वाले थे पर पीछे बहुत दिनों तक सिरसा (इलाहाबाद) में रहे और वहीं उनकी मृत्यु हुई। पहले अध्यापक रूप में कुछ दिन काम करते रहे पर बाद में लाट साहब के आफिस के पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त हो गए थे। इन्होंने लिखा बहुत है; भले ही शुद्ध साहित्यिक कृतियों का सृजन न किया हो। मातृभाषा के सच्चे हितैषियों में इनका नाम आदर से लिया जाता है। सदाचार और देशहित संबंधी इनके लिखे अनेक लेख हैं। सामाजिक कार्यों में इनकी विशेष रुचि थी और व्याख्यान देने का उत्साह भी दिखाते थे। अपनी योग्यता और सरकारी कार्यालयों में निरंतर काम करने से अंगरेजी से हिन्दी में अनुवाद करने की इनमें विशेष पटुता थी। अपनी अनुवाद-शक्ति के कारण इनको यश मिला था। इनके अनूदित

ग्रंथों की संख्या भी अधिक है। अनुवाद की निपुणता के कारण इन्हें हैदराबाद के निजाम अपने यहाँ ले जाना चाहते थे पर इन्होंने स्वीकार नहीं किया। इनकी प्रमुख अनुवाद-कृतियाँ ये हैं—चार्ल्स लैंब की प्रसिद्ध पुस्तक लैंब्स टेल्स फ्राम शेक्सपियर, नोबुल् डीड्स् आफ विमेन, ब्लैकी का सेल्फ कल्चर। इनके अतिरिक्त ह्यूम, दादाभाई नौरोजी और आलकाट के व्याख्यानों को भी इन्होंने हिन्दी में अनूदित किया था। इन्हें अंगरेजी में भी लिखने का अभ्यास था। इनके लिखे कुछ हिन्दी के लेखों के शीर्षक इस प्रकार हैं—गौ गुहार, गोरक्षा प्रबंधक, सभा में वक्तृता करने के नियम, मन की शुद्धि, खेती की विद्या के मूल सिद्धान्त, बाल विवाह की कुरीति। इन्होंने छोटी छोटी कई नाटकीय रचनाएँ भी की थीं —ग्राम पाठशाला, निकृष्ट नौकरी, सिंधु देश की राजकुमारियाँ, गुन्नौर की रानी, लक्ष्मी का स्वप्न, बालविधवा संताप। तत्कालीन साहित्यिकों में खत्रीजी का बड़ा सम्मान था।

लाला श्रीनिवासदास (१८५०-१८८७) का जन्म दिल्ली में हुआ था। इनके पिता लाला मंगलीलाल मथुरा के प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचन्द की दिल्लीवाली गद्दी के प्रबंधक थे। लाला श्रीनिवासदास आचारवान और शीलवान व्यक्ति थे। हिन्दी और उर्दू के अतिरिक्त इनको संस्कृत, फारसी और अँगरेजी भाषाओं का सामान्य और व्यावहारिक ज्ञान था। भारतेन्दु के समसामयिक लेखकों में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी और ये भारतेन्दु जी के प्रिय साथियों में थे। इन्होंने 'सदादर्श' नामक एक पत्र निकाला था जो दो-तीन वर्षों तक चलता रहा। वृन्दावन से निकलनेवाले 'भारतेन्दु' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में भी इनकी रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। इनकी भाषा संयत, सुबोध और साफ होती थी। नाटकों की भाषा में संवादात्मक गतिशीलता मिलती है और उपन्यास में आकर वही शैली वर्णन-प्रधान बन गई है। उसमें दिल्ली की प्रादेशिकता अथवा पछाँहीपन अधिक दिखाई पड़ता है। इस्की, उन्ने, किस्पर, ठैर आदि सर्वत्र मिलते हैं। विभक्तियों में ऐकार

का बाहुल्य बहुत खटकता है, जैसे—सै (से) मैं (में)। धैर्य के स्थान पर धोर्य और शांत के लिए शान्ति का व्यवहार भी अच्छा नहीं लगता। सच बात तो यह है कि उस युग तक भाषा में अस्थिरता निरंतर चलती रही।

यों तो फुल्लौरी श्रद्धाराम का 'भाग्यवती' उपन्यास पहले सन् १८७७ में निकल चुका था और प्रशंसित भी हुआ था पर उसकी चर्चा लोग भूल चुके थे। भारतेन्दु के साथियों में नाटक और उपन्यास-रचना करनेवालों में लाला श्रीनिवासदास प्रमुख थे। इनके 'परीक्षा गुरु' उपन्यास को बड़ा यश मिला। इसमें स्वार्थपरायण मित्रों के चक्कर में पड़े एक रईस मदनमोहन की दुर्गति की कथा है। पुरानी कहानी की तरह कथानक सीधा और उद्देशपूर्ण है। किसी उतार-चढ़ाव की कोई सुन्दरता उसमें नहीं दिखाई पड़ेगी। मदनमोहन की पत्नी और सहायक सच्चे मित्र ब्रजकिशोर की चरित्रगत विशेषताएँ कुछ स्पष्ट हो सकी हैं। इस उपन्यास के अतिरिक्त उन्होंने चार नाटक लिखे थे—प्रहलाद चरित्र, तप्ता संवरण, संयोगता स्वयंवर, और रणधीर प्रेममोहिनी। इनमें से प्रथम ग्यारह दृश्यों का है, पर उसकी भाषा दुर्बल और कथानक उखड़ा हुआ है। प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान में कुछ इधर-उधर परिवर्तन भी किया गया है पर वह भी कुछ साभिप्राय-सा लगता नहीं। दूसरी रचना में तप्ता और संवरण की पौराणिक कथा के आधार पर प्रेम की स्थिरता का चित्रण है। कथानक का कलेवर, शाप और पत्रलेखादि से, बढ़ाया गया है पर चरित्रांकन में न तो बल है न पूर्णता। इसे भी सामान्य सी रचना ही माननी चाहिए। तृतीय नाटक बड़ी रचना है। इसमें ऐतिहासिक किंवदंती के आधार पर संयोगिता और पृथ्वीराज के विवाह और प्रेम की कथा कही गई है। यों तो इसमें गर्भांकादि का प्रयोग व्यवस्थित रूप में हुआ है पर सारा विस्तार शिथिल-सा ही रह गया है और चरित्र भी साफ नहीं उतरे। चौथी कृति रणधीर प्रेम-मोहिनी है; जिसमें पौराणिक और ऐतिहासिक लपेट से बाहर रहकर

कल्पना-प्रसूत कथानक की ओर लेखक बढ़ा है। इस रचना को ख्याति मिली और साहित्यिकों में चर्चा भी हुई। कुछ दिनों तक पाठ्यक्रमों में भी इसे स्थान मिला। इसमें पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं के अध्ययन का कुछ अवसर अवश्य मिलता है पर देश-काल की अभिव्यक्ति में अनेक दोष की बातें भी दिखाई पड़ती हैं। कालक्रमानुसार परिस्थितियों और समाज के चित्रण में न तो एकरूपता का विचार निबाहा गया और न भाषा-प्रयोग का। शायद भाषा की इसी गड़बड़ी की ओर संकेत करते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'कहाँ स्वयंवर, कहाँ ये मुंशी जी।'

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५-१९२२) मिरजापुर के सम्मानित रईस कुल में उत्पन्न हुए थे और उनका सारा आचरण व्यवहार रईसों का-सा ही रहा—अंत तक। भारतेन्दु से इनकी बड़ी घनिष्ठता थी। उस समय के लिखनेवालों में नितांत साहित्यिक शैली का स्वरूप इन्हीं की रचनाओं में मिलता है। लम्बे-लम्बे वाक्य, भाषा सानुप्रासिकता से भरी-पुरी, बातें खूब गढ़कर सँवारी हुई इनमें अधिक मिलती हैं। सामान्यतः इनकी पदावली और शब्दों का जमाव बड़ा संस्कृतनिष्ठ होता था। कहीं-कहीं 'आन पड़ा' 'करा कर' 'तौ भी' ऐसे पण्डिताऊ प्रयोग भी मिलते हैं, पर उस समय तक भाषा की जैसी प्रगति हो पाई थी उस विचार से प्रेमघन जी सबसे अधिक प्रौढ़ लेखक थे। इन्होंने भाषा को काव्योचित बनाने में सोद्देश्य चेष्टा की थी। बात को बढ़ा चढ़ाकर विस्तार से लिखने में इन्हें बड़ा मजा मिलता था। भारतेन्दु की व्यावहारिक शैली के ठीक विपरीत इनकी शैली थी। इनके लेख और रचनाएँ भारतेन्दु की 'कविवचनसुधा' में बराबर प्रकाशित होती रहीं। मिरजापुर से इन्होंने 'आनन्दकादंबिनी' पत्रिका बहुत दिनों तक निकाली। उसके बन्द हो जाने पर 'नागरी नीरद' पत्र भी अनेक वर्षों तक निकालते रहे। इन्हीं पत्रों के फेर में उन्होंने अपना प्रेस भी स्थापित कर लिया था। प्रेमघनजी स्वभाव से मस्त और साहित्यिक

थे। इनकी रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है।

इनकी काव्यात्मक कृतियों का एक विशाल संग्रह 'प्रेमघन सर्वस्व' (प्रथम भाग) शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है; जिसमें इनकी अनेकानेक कजलियों और लावनियों (ग्रामगीतों) के अतिरिक्त न जाने कितने स्फुट काव्यों को संगृहीत कर लिया गया है। सन् १८८८ में जो कांग्रेस इलाहाबाद में हुई उस अवसर पर अभिनय के अभिप्राय से इन्होंने 'भारत सौभाग्य' नाटक लिखा जो अपने ढंग की विलक्षण रचना है। इसमें पात्रों का प्रयोग मात्रा से बहुत अधिक हुआ है और संवादों में पात्रों के अनुरूप विविध भाषाओं का उपयोग किया गया है। इस प्रकार यह नाटक भाषाओं का अपूर्व संगम बन गया है। इनका दूसरा नाटक है 'प्रयाग रामागमन। भरद्वाज ऋषि के आश्रम में रामचन्द्र के भव्य आतिथ्य का इसमें विवरण दिया गया है। कहीं-कहीं संवादों में ब्रजभाषा का भी उपयोग किया गया है। 'वारांगना रहस्य' एक महानाटक भी ये लिख रहे थे और उसे क्रमशः 'आनन्द कादम्बिनी' में निकालते रहे, पर वह शायद पूरा नहीं हो सका। हिन्दी आलोचना का सूत्रपात भी इन्होंने किया था। बाबू गदाधरसिंह के द्वारा जो अनूदित उपन्यास 'बंगविजेता' निकला था उसके गुणदोष की अच्छी परीक्षा इन्होंने निकाली और लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगता स्वयंवर' की भी एक विस्तृत आलोचना छापी थी। इन्हीं कृतियों को हम आधुनिक आलोचना का उद्गम मान सकते हैं।

प्रतानारायण मिश्र (१८५६-१८९४) कानपुर के रहने वाले थे, सामान्य शिक्षादीक्षा के व्यक्ति थे, बीमार भी बने रहते थे, पर थे परम मनमौजी, स्वतंत्र, पुरानपंथी, आलसी, योगाभ्यास के प्रेमी, गोरक्षा के बड़े हिमायती। लावनी गानेवालों के गीत सुनते भी थे और उस प्रकार की रचना में भी पटु थे। भारतेन्दुजी के प्रति इन्हें अपार श्रद्धा थी। आरम्भ से ही 'कविवचनसुधा' और उनकी अन्य रचनाओं को पढ़-पढ़ कर मिश्रजी प्रेरणा ग्रहण करते आए थे। परन्तु रचना-शैली के विचार से दोनों में बड़ा अन्तर है। मिश्रजी की शैली में अपना एक निरालापन

सबसे अलग है। उसमें विदग्धता के साथ विनोदपूर्ण वक्रता मिली रहती है। जैसा उनका स्वभाव था उसी प्रकार वे उन्मुक्त विषय का निर्वाचन भी करते थे। कभी बात, वृद्ध, भों, दाँत आदि नितांत व्यावहारिक और चलते विषयों पर निबंध लिखते और अवसर पा जाने से 'मनोयोग', 'स्वार्थ' ऐसे लेख भी तैयार करते। जहाँ तक भाषा का सवाल है, उसमें भी उनका अपनापन भरा रहता था। बालकृष्ण भट्ट और भारतेन्दु की भाँति नागरिकता की ओर इनका विशेष झुकाव नहीं था। वे साहित्य-सर्जना के माध्यम से अपना संबंध सामान्य जनता से जोड़ना अधिक पसंद करते थे। इसीलिए उनके विषय-निवेदन में जहाँ आत्मीयता का स्वरूप मिलता है वहीं दिहाती शब्दों और प्रयोगों की ओर भी उनका अधिक आकर्षण मिलता है। कहावतों और मुहावरों की सजावट इनकी शैली में बहुत मिलती है, कहीं-कहीं तो उनकी ऐसी झड़ी लगी दिखाई पड़ती है कि सारी बात ही मुहावरों में कह दी जाती है। इस ढंग का एक उदाहरण आवश्यक है—"डाकखाने अथवा तार घर के सहारे से बात की बात में चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है। हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं। बात ही हाथी पाइए बातहि हाथी पाँव। बात ही से पराए अपने और अपने पराए हो जाते हैं।" मिश्रजी के शीर्षक तक मुहावरों और कहावतों में दिए जाते थे—जानैं न बूझैं कठौता लैकै जूझैं, मरे का मारैं शाहमदार, टेढ़ जानि शंका सब काहू, घूरे का लत्ता बीनैं कनातन का डौल बाँधैं। इसी तरह के शीर्षकों और इसी तरह की भाषा में मिश्रजी ने अनेकानेक लेख और निबंध लिखे थे। उनके विषय देशदशा, समाजसुधार, नागरी-हिन्दी प्रचार आदि होते थे। साधारण मनोरंजन की ओर भी उनकी प्रवृत्ति रहती थी।

अन्य गद्यात्मक रचनाओं में इन्हें विशेष सफलता नहीं मिल सकी।

छोटे बड़े कई नाटक इन्होंने लिखे थे। उस युग के प्रायः सभी कृतिकार कुछ सामान्य विषयों की ओर विशेष झुके थे। गो चर्चा, कलि प्रताप, भारतीय जीवन की अनेक गलित रूढ़ियाँ, धर्म के क्षेत्र में फैला पाखंड, भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक वस्तुस्थिति पर व्यंग्य आदि कुछ परिमित क्षेत्र में उनकी कृतियाँ बँधी मिलती हैं। मिश्रजी के रचित ग्रंथों के शीर्षकों को देख कर इसका कुछ आभास मिल जाता है। 'भारत दुर्दशा' नाम से पहले बाबू हरिश्चन्द्रजी भी लिख चुके थे और इसी शीर्षक को ले कर मिश्रजी ने भी लिखा; जिसमें यदि कहा जाय तो स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रतिपाद्य मुखरित नहीं हो सका है। 'कलि-कौतुक' नाटकीय कृति में मांस-मदिरा, साधुओं की हीनता, अनाचार आदि उसी प्रकार की बातें हैं जिन्हें भारतेन्दुजी अपना चुके थे। कुकृत्यों के दुष्परिणामों की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया गया है। 'गो संकट तथा कलि प्रभाव' का कथानक भी समाज की दुर्बलताओं का ही निदर्शन करता करता है। 'हठी हमीर' का आधार इतिहास से संबद्ध है। हमीर में शरण-आए-की-रक्षा का भाव ही उभाड़ना लक्ष्य है। खिलजी अलाउद्दीन के सरदार को अपने संरक्षण में ले कर उसने अपने लिए विपद मोल ली। 'जुआरी-खुवारी' इनका लिखा एक साधारण-सा प्रहसन भी है। थोड़े में कहा जा सकता है कि मिश्रजी ने प्रधानतया नाटक को साहित्य-सर्जना का मुख्य माध्यम बनाया पर उनके रूपकों में उनकी भाषा-शैली वाली प्रवृत्तियाँ समाविष्ट नहीं हो सकीं। उनमें न तो वह विनोद-सौष्ठव है और न व्यंग्य-आक्षेप का तीखापन। पं० प्रताप नारायण मिश्र के व्यक्तित्व की छाप जितनी उन निबंधों पर दिखाई पड़ती है उतनी नाटकों में नहीं।

हिन्दी-गद्य-सर्जना के क्षेत्र में उक्त लेखकों की कृतियों ने युग का पूर्ण प्रतिनिधित्व किया है—भाषा-शैली के विकास-क्रम की दृष्टि से भी और साहित्य के विविधमुखी निर्माण, प्रसार और अपूर्णता के विचार से भी। इन अमर कृतिकारों के साथ हिन्दी के अन्य श्रेष्ठ साहित्यकारों

का भी महत्त्वपूर्ण योग था। वे सभी किसी-न-किसी रूप में और किसी न किसी विषय पर निरंतर लिखते और हिन्दी का गौरव बढ़ाते रहे। किसी ने अनुवाद में उत्साह दिखाया, किसी ने पत्र-पत्रिकाएँ निकालने में योग दिया और प्रचार कार्य को आगे बढ़ाने में लीन रहे, किसी ने गद्यशैली की अभिवृद्धि और परिष्कार में ही काम किया और किसी ने लेख और भाषण या धार्मिक मीमांसा में ही महत्त्व का कार्य किया। ऐसे सहायकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय ये हैं—बाबू तोताराम (१८४७-१९०२) मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या (१८५०-१९१२), बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री (१८५१-१९०४), केशवराम भट्ट (१८५४-१९०४) ठा० जगमोहनसिंह (१८५७-१८९९) अम्बिकादत्त व्यास (१८५८-१९००) रामकृष्णवर्मा (१८५९-१९०६) राधाचरण गोस्वामी (१८५९-१९२५), फ्रेडरिक पिन्काट (१८३६-१८९६) और भीमसेन शर्मा (१८५४-१९१७)।

मुंशी तोताराम प्रधानाध्यापक पद से छुट्टी पाकर अलीगढ़ से 'भारतबंधु' निकालने लगे थे। भारतेन्दु का हाथ बँटाने में इन्होंने भी योग दिया था। इनका लिखा कीर्तिकेतु नाटक और एक व्यावहारिक पुस्तक स्त्री सुबोधिनी है। पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के सम्पादन में भारतेन्दुजी का साथ देते थे। इतिहास की ओर इनकी विशेष अभिरुचि थी और इसका उपयोग 'रासो संरक्षा' में अच्छी तरह किया। पृथ्वीराजरासो कोई जाली ग्रंथ नहीं है—ऐसा अभिमत उन्होंने योग्यतापूर्वक स्थापित किया था और उस युग के विवादपूर्ण विषय में योग दिया था। उनका लिखा 'प्रहलाद' नाटक और पुरातत्त्व-विषयक अनेक लेख हैं। हिन्दी-प्रसार-कार्य के पीछे दीवाने रहनेवालों में बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री का नाम महत्त्वपूर्ण है। 'सारसुधानिधि' के सम्पादक पं० सदानन्द मिश्र और भारतेन्दु जी से इनकी घनिष्ठता थी। ये स्वयं 'प्रेम विलासिनी' पत्रिका और 'हिन्दी दीप्ति प्रकाश' पत्र कुछ दिन निकालते रहे। उस समय हिन्दी-प्रचार के कार्य में इन्होंने बड़ी निष्ठा के साथ काम

किया था। भ्रमणशील व्यक्ति थे और भ्रमण-संबंधी लेख भी लिखा करते थे। 'सारसुधानिधि' और 'उचितवक्ता' में इनके लिखे बहुत से लेख निकले थे। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी और प्रयाग से प्रकाशित होने वाली 'सरस्वती' तक में इनको योग देने का अवसर मिला था। इनकी प्रकाशित रचनाओं में 'रेल का विकट खेल' और 'उषा हरण' नाटक हैं, 'शिवाजी' और 'अहल्याबाई' जीवन चरित्र हैं। इनके अतिरिक्त अनेक बँगला उपन्यासों का इन्होंने अनुवाद भी किया था। पं० केशवराम भट्ट का संबंध शिक्षा विभाग से था और उन्होंने साधारणतः स्कूली पुस्तकें लिखी हैं; 'बिहारबंधु' पत्र भी कुछ दिन निकालते रहे। उनके लिखे दो नाटक हैं—'सज्जाद संबुल' और 'शमशाद सौसन'। इनमें उर्दू की ही प्रधानता है और रचना-कौशल की दृष्टि से कोई विशेषता न होने पर भी युगधर्म का उद्घाटन अच्छे ढंग से किया गया है।

जहाँ तक भाषा शैली और साहित्यिक कृतित्व का संबंध है इस युग के लेखकों में ठा० जगमोहनसिंह का विशेष महत्त्व है। उनका लिखा गद्य है बहुत कम ; केवल एक 'श्यामा स्वप्न' औपन्यासिक रचना है। उसमें ग्राम्य जीवन की मधुर झाँकी और प्राकृतिक चित्र-विधान उत्तम कोटि का है। संस्कृत और अँगरेजी पुस्तकों के इन्होंने जो अनुवाद किए थे उस काल में उनकी विशेष चर्चा हुई थी। कविता की अनेक रचनाएँ की थीं। मूलतः वे भावुक कवि और सरस प्रकृति-प्रेमी थे। इन दोनों का पुट उनकी समस्त कृतियों में देखा जा सकता है। साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास काशी की विभूति थे। उत्तर भारतेन्दु काल के यशस्वी और सम्मानित धर्मोपदेशक, शतावधानी, काव्यमर्मज्ञ, कवि और लेखक थे। ताश और शतरंज ऐसे विषयों से लेकर गद्यकाव्य मीमांसा और काव्यकला आदि गंभीर और विवेचना-परक विषयों तक अनेकानेक ग्रंथों का प्रणयन उन्होंने किया था। कवि समाज में लोग उनका लोहा मानते थे। वे पक्के सनातनधर्मी थे और शास्त्रार्थ करने या खण्डन-मण्डनवाले भाषणों की बड़ी अद्भुत क्षमता

उनमें थी। अनेक काव्य-रचनाओं, शिक्षा-संबंधी ग्रंथों, और धार्मिक या शास्त्रीय ग्रंथों के अतिरिक्त उनकी लिखी 'ललिता नाटिका', 'गो संकट नाटक', 'भारत सौभाग्य नाटक' प्रमुख हिन्दी गद्य की कृतियाँ हैं। साथ ही 'कलियुग और घी', और 'मन की उमंग' ऐसी अन्य नाटकीय सर्जनाएँ भी उन्होंने प्रस्तुत की थीं। उनकी भाषा सर्वत्र कुछ पंडिताऊपन लिए होती थी लेकिन सफाई और कथन पद्धति का बल सर्वत्र मिलता था। प्रवाह एवं ओज की भी कमी उनमें कहीं नहीं दिखाई पड़ती थी।

बाबू रामकृष्ण वर्मा उस समय की एक संस्था के रूप में थे। सभी साहित्यिकों से इनका मेल था और गोपाल-मन्दिर के गोस्वामी जीवनलाल के कवि समाज में इनके कारण कवियों की बड़ी मंडली एकत्र होती थी। मौलिक ग्रंथों की रचना इन्होंने कुछ न की हो पर अपने अनुवादों के लिए इन्होंने बड़ा यश कमाया। अंगरेजी और बँगला के बहुत से उपन्यासों का अनुवाद इन्होंने किया था। इनके अनुवादों की सफाई और बोधकता में इनकी भाषा शक्ति का ज्ञान हो जाता है। सोमदेवकृत 'कथा सरित-सागर' से ले कर 'ठगवृत्तांतमाला' तक इनका अनुवाद-कार्य फैला था। बँगला के कृष्णकुमारी, पद्मावती और वीर नारी नाटकों के अनुवाद इनकी पटुता के अच्छे प्रमाण हैं। इन अनुवादों के अतिरिक्त हिन्दी के लिए उन्होंने जो कार्य किया वह अपने ढंग का निराला कार्य है। अपने भारत-जीवन प्रेस से उन्होंने रीतिकालीन कवियों के नष्ट होते हुए सैकड़ों ग्रंथ छापे और उनके अस्तित्व को प्रकाश में ले आए।

गोस्वामी राधाचरणजी भारतेन्दु मण्डल के प्रमुख कवियों और लेखकों में थे। देश, धर्म और समाज के प्रति उनकी सेवाएँ बहुत थीं और वे वृन्दावन के श्रेष्ठ नागरिकों में थे। वे भारतेन्दु का आदर गुरु की तरह करते थे और दूर रह कर भी उनकी साहित्यिक सर्जना का निष्ठापूर्वक अनुसरण करते थे। इन्होंने 'भारतेन्दु' पत्र निकालने के अतिरिक्त सैकड़ों, छोटे-बड़े लेख लिखे थे। कविता की अनेक पुस्तकों के साथ गद्य की भी इन्होंने कई रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। इनके लिखे कई नाटक

और प्रहसन प्रसिद्ध हैं—'श्रीदामा' 'सती चन्द्रावली', 'अमरसिंह राठौर' नाटक के ढंग की चीजें हैं और 'तन-मन-धन श्रीगोसाईं जी के अर्पण,' 'भंगतरंग', 'बूढ़े मुँह मुँहासे' प्रहसन हैं। इन्होंने कई उपन्यासों की रचनाएँ कीं और अनुवाद किए, साथ ही अपने सम्प्रदाय और धर्म की अनेक पुस्तकें लिखी थीं। साम्प्रदायिक भावना के क्षेत्र में इनके विचार बड़े उदार और सुलझे हुए थे। कहा जाता है इनका कुछ झुकाव ब्राह्म समाज की ओर भी था।

उस काल में हिन्दी-हित-साधक विदेशियों में फ्रेडरिक पिन्काट साहब का नाम उल्लेखनीय है। विलायत में बैठे-बैठे यहाँ के हिन्दी साहित्य-निर्माताओं से निरंतर पत्र-व्यवहार करके उनसे घनिष्ठता बनाए रखना और हिंदोस्तान, आर्य दर्पण, भारतमित्र ऐसे हिन्दी पत्रों के उद्धरण वहाँ प्रकाशित करते रहना उनकी विशेषताएँ थी। समय-समय पर राजा लक्ष्मणसिंह और बा० अयोध्याप्रसाद खत्री की रचनाओं की संस्तुति अथवा परिचय आदि भी लिखा करते थे! अपने अंतिम दिनों में भारत आ कर रहने लगे थे। उनकी मृत्यु यहीं लखनऊ में हुई थी। उनकी लिखी 'बाल दीपक' ४ भागों में शिक्षा संबंधी पुस्तक थी जो बिहार के स्कूलों में पढ़ाई जाती थी। एक छोटी सी पुस्तिका 'विक्टोरिया चरित्र' भी उन्होंने लिखी थी। हिन्दी के साहित्यकारों को वे प्रायः बड़े लम्बे पत्र लिखा करते थे। उनमें हिन्दी-विषयक उनके उद्‌गार दिखाई पड़ते थे—"आपका पत्र मुझको मिला और उससे मुझको परम आनन्द हुआ। आपकी समझ में हिन्दी भाषा का प्रचलित होना उत्तर-पश्चिम वासियों के लिए सब से भारी बात है। मैं भी सम्पूर्ण रूप से जानता हूँ कि जब तक किसी देश में निज भाषा और अक्षर सरकारी और व्यवहार संबंधी कामों में नहीं प्रवृत्त होते हैं तब तक उस देश का परम सौभाग्य नहीं हो सकता। इसलिए मैंने बार-बार हिन्दी भाषा का प्रचलित करने का उद्योग किया है।"

पं० भीमसेन शर्मा आर्यसमाज के सुदृढ़ स्तंभ और स्वामी दयानन्द

के दाहिने हाथ थे। उनमें खण्डन-मण्डन और साम्प्रदायिक शास्त्रार्थ की प्रबल शक्ति थी। विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ भाषा में अपने प्रवचन किया करते थे। स्वामीजी के साथ अधिक रहते थे और उनके लिखने-पढ़ने के काम में पूरा योग देते थे। हिंदी की विशुद्धता के पक्के हिमायती थे और लिखने-बोलने में स्वामी जी को आदर्श मानते थे। इन आर्यसमाज के विद्वानों से हिन्दी का प्रचार भी हुआ था और उसमें संस्कृत-निष्ठा भी अक्षुण्ण बनी रही। आरम्भ में जब तक वे आर्यसमाज का पोषण करते थे तब तक प्रयाग से एक पत्र 'प्रयाग-समाचार' निकालते रहे पर पीछे चलकर कट्टर सनातनधर्मी हो गए थे और इटावा से निकलने वाले 'ब्राह्मण सर्वस्व' का सम्पादन करने लगे थे। उनकी भाषा-विषयक कट्टरता का पक्का प्रमाण इस बात से मिल जाता है कि वे अरबी फारसी के तत्सम शब्दों का भी संस्कार कर के संस्कृत बना लेते थे और अपनी धारावाहिक भाषा में उसका प्रयोग करते थे। उनकी भाषा में 'चश्मा' 'चक्षमा' और 'दुश्मन' 'दुःशमन' हो जाते थे। इस विषय में उनका स्पष्ट अभिमत था—'जो जाति स्वतंत्र भाषा का अभिमान रखती हो·····उस जाति के लिए अपनी भाषा को खिचड़ी बनाने की शैली उपयुक्त नहीं कही जा सकती।'

भारतेन्दु की छत्रछाया में पले हुए बाबू राधाकृष्णदास एक प्रकार से भारतेन्दु युग और आधुनिक काल के बीच उत्तम कड़ी के रूप में थे। भारतेन्दु के फुफेरे भाई तो थे ही इसलिए उनके मण्डल और अन्य साहित्य निर्माताओं से उनका व्यक्तिगत परिचय था। भारतेन्दु की साहित्यिक विरासत की सुरक्षा एवं समृद्धि ही उनके जीवन की प्रेरणा और आकांक्षा बन गई। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा और प्रयाग की सरस्वती पत्रिका के ये प्रधान सहायकों में थे। नागरी लिपि का जो आन्दोलन उस समय उठ खड़ा हुआ था उसमें इनका भी श्रम और समय लगता था। प्राचीन हस्त-लिखित ग्रंथों का जो कार्य सभा ने आरम्भ किया था उसमें इनका प्रशंसनीय योग अंत तक बना रहा।

साहित्य-निर्माता के रूप में भी इनका बड़ा महत्त्व है। कविता, लेख, निबंध, नाटक, उपन्यास, अनुवाद आदि सभी प्रकार की इनकी रचनाएँ हैं। इनकी मौलिक एवं स्वतंत्र कृतियों में 'दुःखिनी वाला', 'पद्मावती', 'धर्मालाप', और 'महाराणा प्रताप' इनके नाटक हैं; जिनमें अंतिम अति प्रसिद्ध और साहित्यिकों से समादृत हो चुका है। कई बार उसका अभिनय भी हो चुका है। इसमें इतिहास-क्रम से कथानक की सजावट है और प्रताप के चरित्रांकन में विशेष पटुता दिखाई पड़ती है। इनका रचा एक मौलिक उपन्यास 'निस्सहाय हिन्दू' भी है। इनके अतिरिक्त अनेक प्राचीन काव्यों का इन्होंने सम्पादन किया था, जैसे—सूरसागर, सुजान चरित्र, भक्त नामावली, रास पंचाध्यायी, जंगनामा। इनके लिखे जीवन चरित्रों में 'सूरदास', 'नागरीदास', 'बिहारीलाल' आदि हैं। प्राचीन श्रेष्ठ आर्यों का चरित्र और हिन्दी भाषा के सामाजिक पत्रों का एक संक्षिप्त विवरण भी इन्होंने लिखा था।

यहाँ तक तो भारतेन्दु युग के साहित्य-निर्माण की बात हुई। अब थोड़ा उस सामूहिक प्रभाव की ओर भी ध्यान देना है जिसका निर्माण ही उस युग का परम लक्ष्य था। गद्य-साहित्य के निर्माण और प्रसार के कारण हिन्दी में कुछ भराव दिखाई पड़ने लगा था। भविष्य के लिए पर्याप्त आदर्श संगठित हो चुका था और साहित्य-निर्माताओं की भी भावी पीढ़ी अपना स्वरूप धारण कर रही थी। अतीत और वर्तमान के उस संधिकाल का साहित्य के विकास में बड़ा महत्त्व था। इस संधिकाल में भविष्य के लिए नव प्रेरणा प्रदान करने वाली जो परिस्थिति सामने उपस्थित हुई और जिसके कारण भावी पीढ़ी को शीघ्र सामने आना पड़ा उसके मूल में तीव्र आकांक्षा इस बात की थी कि राज-समाज के व्यावहारिक प्रयोग में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का प्रवेश हो, इसके बिना साहित्य-सर्जना का सारा व्यापार ही फल-विहीन दिखाई पड़ रहा था। बहुत पहले से ही इन दोनों को स्वीकृति के विरोधीगण चले आ रहे थे। भारतेन्दु और उनके मण्डल के अनेक साहित्य-स्रष्टा और

सम्पादक समय-समय हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रचार के लिए सक्रिय उद्योग करते रहे और इन विषयों को ले कर व्याख्यान और पैंफ्लेटबाजी चलाते रहे। जितना अधिक साहित्य निर्मित हो चुका था उसके लिए उस अनुपात में पाठक और ग्राहक नहीं उत्पन्न हो पाए थे। इसका मुख्य कारण था अदालत और सरकारी कामकाज में हिन्दी की अस्वीकृति।

इससे सामान्यतया जनता को बड़ा कष्ट था और लोगों में इसके लिए विरोध की भावना स्फुरित हो रही थी। इसी समय ई० सन् १८९३ में काशी के "कई उत्साही छात्रों के उद्योग से, जिनमें बाबू श्यामसुन्दरदास, पंडित रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमार सिंह मुख्य थे, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। सच पूछिए तो इस सभा की सारी समृद्धि और कीर्ति बाबू श्यामसुन्दरदास के त्याग और सतत परिश्रम का फल है। वे ही आदि से अंत तक इसके प्राण-स्वरूप स्थित होकर बराबर इसे अनेक बड़े उद्योगों में तत्पर करते रहे। इसके प्रथम सभापति भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास हुए। इसके सहायकों में भारतेन्दु के सहयोगियों में से कई सज्जन थे, जैसे—रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र एम० ए०, खड्गविलास प्रेस के स्वामी बाबू रामदीन सिंह, 'भारत जीवन' के अध्यक्ष बाबू रामकृष्ण वर्मा, बाबू गदाधरसिंह, बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री इत्यादि। इस सभा के दो उद्देश हुए—नागरी अक्षरों का प्रचार और हिन्दी साहित्य की समृद्धि।" × × "सभा ने आगे चल कर हिन्दी पुस्तकों की खोज का काम भी अपने हाथ में लिया जिससे बहुत से गुप्त और अप्रकाशित रत्नों के मिलने की पूरी आशा के साथ-साथ कवियों का बहुत कुछ वृत्तांत प्रकट होने की भी पूरी संभावना थी। संवत् १९५६ में सभा को गवर्नमेण्ट से ४००) वार्षिक सहायता इस काम के लिए प्राप्त हुई और खोज धूमधाम से आरम्भ हुई। यह वार्षिक सहायता ज्यों ज्यों बढ़ती गई त्यों-त्यों काम भी अधिक विस्तृत रूप में होता गया। इसी खोज का फल है कि आज कई सौ ऐसे

कवियों की कृतियों का परिचय हमें प्राप्त है जिनका पहले पता न था। कुछ कवियों के संबंध में बहुत सी बातों की नई जानकारी भी हुई। सभा की 'ग्रंथमाला' में कई पुराने कवियों के अच्छे-अच्छे अप्रकाशित ग्रंथ छपे। सारांश यह कि इस खोज के द्वारा हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने की खासी सामग्री उपस्थित हुई जिसकी सहायता से दो एक अच्छे कविवृत्त-संग्रह भी हिन्दी में निकले।"—(हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले० पं० रामचन्द्र शुक्ल)।

हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रयोग और उसके प्रसार का आंदोलन तो चल ही रहा था दूसरी ओर पं० रविदत्त शुक्ल ऐसे उत्साही 'देवात्तर चरित्र' प्रहसन लिखकर उसका स्थान-स्थान पर अभिनय भी करा रहे थे। उर्दू लिपि की विविध विकृतियों का इसमें बड़े विनोदपूर्ण ढंग से निदर्शन हुआ था। नागरी प्रचार का झण्डा उठानेवालों में मेरठ निवासी पं० गौरीदत्तजी का नाम महत्त्वपूर्ण था। एक साधारण मुदर्रिस होकर भी जितना स्तुत्य कार्य उन्होंने उस समय किया वह उनकी आंतरिक आस्था का अच्छा परिचय देता था। उनके व्याख्यानों के परिणाम-स्वरूप बहुत से देवनागरी स्कूल खुल गए। जहाँ कहीं मेला-तमाशा होता पण्डितजी नागरी का झंडा हाथ में लिए, 'जयराम' की जगह 'जयनागरी की' बोलते व्याख्यान देने पहुँचे दिखाई पड़ते थे। स्कूली किताबों के अतिरिक्त उन्होंने अपने नाम पर एक 'गौरी नागरी कोश' बना डाला था। सन् १८९४ के लगभग एक मेमोरियल भी उन्होंने इस अभिप्राय से भेजा था कि सरकारी कारबार और व्यवहार में नागरी को स्थान दिया जाय।

इस प्रश्न के विषय में नागरी प्रचारिणी सभा ने ऐतिहासिक जागरूकता दिखाई और इस आन्दोलन को पूरी सजीवता से आगे बढ़ाया। सन् १८९५ में जब इस प्रदेश के गवर्नर सर ऐंटनी मैक्डानल्ड काशी में पधारे तब सभा की ओर से एक आवेदनपत्र उनके सम्मुख रखा गया जिसमें उन कठिनाइयों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया

गया था जो साधारण जनता को निरंतर कठिनाइयों में इसलिए डालती थीं कि अदालतों और सरकारी विभागों में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का प्रवेश स्वीकृत नहीं था। इस पर लाट साहब ने आश्वासन दिया कि प्रश्न पर उदारता के साथ विचार किया जायगा। फिर तो सारे प्रान्त और उसके बाहर भी व्याख्यानों और डेपुटेशनों की धूम मच गई। भिन्न-भिन्न स्थानों में सभा ने अपनी शाखाएँ खोलीं और हिन्दी भाषा और नागरी लिपि की उपयोगिता की ओर लोगों की अभिरुचि पैदा करती रही। सन् १८९८ में एक बड़ा प्रभावशाली डेपुटेशन तैयार हुआ जिसमें महामना पं० मदनमोहन मालवीय और सर सुन्दर लाल ऐसे लोग भी थे। इसके अन्य सदस्यों में अयोध्या, माड़ा, और आवागढ़ के नरेश लोग भी सम्मिलित हुए। यह डेपुटेशन गवर्नर साहब से मिला और नागरी की इसने पूरी वकालत की और मेमोरियल उपस्थित किया। यह मेमोरियल नागरी-प्रचार के लिए प्राणदायक सिद्ध हुआ। इसकी सफलता के लिए सम्पूर्ण प्रान्त में प्रबल आन्दोलन किया गया और सभा की ओर से न जाने कितने लोगों ने रात-दिन एक कर के भारी प्रयत्न किया। इस आन्दोलन के सर्वमान्य नेता मालवीयजी थे और उन्होंने "अदालती लिपि और प्राइमरी शिक्षा" शीर्षक से बहुत कुछ लिखा। अंत में सन् १९०० में भारतेन्दु के समय से चला आता यह उद्योग सफल हुआ और नागरी लिपि को अदालतों में प्रवेश मिला।

हिन्दी गद्य के इस विकास काल में काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का कृतित्व ऐतिहासिक महत्त्व की चीज है। हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रचार के लिए सभा ने सर्वांगीण योजनाएँ बनाईं और बड़े उत्साह से विभिन्न विषयों के ग्रंथ-प्रणयन और प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया। तुलसी, जायसी, भूषण आदि प्राचीन कवियों की ग्रंथावलियों को संपादित और प्रकाशित किया। अनेक ऐतिहासिक काव्यों का आधुनिक ढंग से प्रकाशन और सम्पादन किया गया, जैसे—पृथ्वीराजरासो, परमालरासो, बीसलदेवरासो, छत्रप्रकाश आदि। मनोरंजन पुस्तकमाला

के अन्तर्गत अनेकानेक विषयों पर स्वतंत्र पुस्तकें छापी गईं। "हिन्दी का सबसे बड़ा और प्रामाणिक व्याकरण तथा कोश (हिन्दी शब्दसागर) इस सभा के चिरस्थायी कार्यों में गिने जायँगे।" सभा ने अपनी मुख पत्रिका "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" का प्रकाशन सन् १८९६ से आरंभ किया। तब से लेकर आज तक यह पत्रिका बड़े सम्मान और उपयोगिता का स्थान ग्रहण किए चली आ रही है और सभा की अनेकपक्षीय उन्नति और यशवृद्धि निरंतर होती जाती है।

अन्त में आकर यदि सामूहिक रूप से हम समस्त भारतेन्दुकालीन साहित्यिक वस्तुस्थिति का थोड़े में आकलन करना चाहें तो कह सकते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में यदि हिन्दी के गद्य-साहित्य का शिलान्यास हुआ तो उत्तरार्ध में आकर भव्य प्रासाद का रूप खड़ा हो गया था। उस युग में गद्य-साहित्य के विविध अंगों का जन्म भी हुआ और उनमें शक्ति का संवर्धन भी देखने में आ गया था। उस काल के साहित्य-निर्माता किस उत्साह में भरे, किस जिन्दादिली और स्फूर्ति से प्रेरित रहे, यह समझने की बात है। भारतेन्दु युग की सजीव उत्फुल्लता और ईमानदारी में पूर्ण शिक्षा पाए हुए कुछ युवक और प्रौढ़ जो रह गए थे उन्हीं पर भविष्य में साहित्य-सर्जना की गतिविधि के संरक्षण एवं नियंत्रण का भार आ पड़ा था। अभी तक तीव्र वेग से निर्मिति के भण्डार को भरने की ललक रही; आगे का दायित्व इस प्रकार का दिखाई पड़ा कि निर्माण का कार्य चलता रहे और अधिकाधिक विकास की ओर उन्मुख रहे पर साथ ही उसमें उत्तरोत्तर परिष्कार एवं नियमन की प्रवृत्ति भी प्रकट होती चले।

गद्य-साहित्य का द्वितीय उत्थान

(१६००–१६२५)

सभी विषयों के ऐतिहासिक अनुशीलन में जो बात सामान्य रूप में दिखाई पड़ती है वह यह है कि एक समय ऐसा आता है जब कि भीतर भीतर दबी चली आती हुई कुछ सजीव परिस्थितियाँ तथा कारण उभड़ कर ऊपर आ जाते हैं और किसी प्रकार के व्यापक परिवर्तन को सम्मुख उपस्थित कर देने में सहायक हो उठते हैं। यही नियम साहित्य के क्षेत्र में भी घटित होता है। उसमें भी किसी विशेष अवसर पर कुछ कारण इस प्रकार सामने आ जाते हैं कि सारी गतिविधि पर उनका प्रभाव लक्षित होने लगता है। हिन्दी गद्य के विकासक्रम में ई० सन् १६०० इसी कोटि का समय विशेष था। इस वर्ष न्यायालयों और सरकारी कारबार में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को प्रवेश मिला था, काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का संगठन सुदृढ़ हो चुका था और वह उन्मेषपूर्वक नवीन योजनाओं को कार्यान्वित करने में तत्पर होकर विशेषतः हिन्दी के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की खोज में लग गई थी और इसी समय प्रयाग से 'सरस्वती' नामक सर्वांग सुन्दर पत्रिका के प्रकाशन का कार्य आरम्भ हुआ। हिन्दी गद्य के निर्माण-प्रसार में योग देने वालों के भीतर इन कारणों से नवीन क्रिया-शक्ति का स्फुरण दिखाई पड़ा और उनमें अपने आगे-पीछे के संतुलन को ठीक करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई।

भारतेन्दुयुग के लेखकों का परिचय देते हुए बारंबार कहा जा चुका है कि गद्य की बहुमुखी निर्माण-योजना के कारण उस समय के प्रायः सभी लेखकों में भाषा विषयक अनेक दुर्बलताएँ बराबर मिलती थीं। कहीं व्याकरण की च्युति मिलती थी तो कहीं पूरबीपन और पछाँहीपन की अधिकता खटकती थी; कहीं पण्डिताऊपन उभड़ा रहता था तो कहीं

ग्राम्यत्व की झलक मिलती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि उस युग में भाषा के परिष्कार की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया था। सभी निर्माण के उत्साह में मस्त थे, आगे बढ़ते जाने की उनमें जितनी ललक थी उतनी अर्जित की सम्यक् व्यवस्था और नियंत्रण की नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि द्वितीय उत्थान के भीतर जिम्मेदार कर्णधारों के सामने यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ था कि अब भाषा प्रयोग का क्षेत्र अतिव्यापक हो जाने से और साहित्येतर अनेकानेक विषयों पर लिखे जाने की बाढ़ के कारण यदि भाषा का कठोरतापूर्वक नियमन नहीं किया जायगा तो उसकी व्यंजना शक्ति तो मारी ही जायगी उसमें एकरूपता भी नहीं गठित हो पायगी। इस प्रकार भाषा के सुधार-परिष्कार का एक कारण और उपस्थित हो गया था। इस उत्थान में आकर भाषा-प्रयोग का काम केवल साहित्य-निर्माताओं के ही जिम्मे नहीं बँधा रह सका। नित्य नूतन विषयों में गृहीत होने के कारण भाषा ऐसे लोगों के सम्पर्क में भी आने लगी जो केवल अंगरेजी या संस्कृत या उर्दू या किसी के भी जानकार नहीं थे, पर लिखते अवश्य थे। इसके साथ ही हिन्दी अब विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओं के अनुवादों के चक्कर में भी पड़ने लगी थी; इसलिए उनके शब्दों और प्रयोगों से भी उसका साबिका पड़ने लगा था। इन कारणों से यह अनिवार्य-सा हो गया कि जहाँ भाषा-प्रयोग का क्षेत्र अधिकाधिक व्यापक किया जाय वहीं उसके स्वरूप, शैली और व्यवस्था की ओर भी ध्यान दिया जाय।

इस उत्थान के पूर्व लेखकों में विरामादि चिह्नों के प्रयोग के विषय में बड़ी विचारहीनता दिखाई पड़ी थी। प्रत्येक लम्बे वाक्य के विस्तार के भीतर आने वाले खण्डवाक्यों के बीच भिन्न प्रकार के चिह्नों की आवश्यकता का अनुभव इसलिए होता है कि इनकी सहायता से यह समझना सरल हो जाता है कि एक खण्ड का सम्बन्ध दूसरे वाक्यांश से किस प्रकार का है। ये चिह्न भाव या विचार की बोधकता को स्थिर रूप प्रदान करते हैं। इनके अभाव में अभीष्ट अर्थबोधन में व्याघात उपस्थित होता है,

और फिर अंगरेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में इनके प्रयोग प्रचलित हो चुके थे। उनके रूपों को देख कर हिन्दी वालों में भी उनके प्रयोग से लाभ उठाने की प्रेरणा जगी। भारतेन्दु युग के कृतिकारों ने इस विषय में भी प्रमाद दिखाया था अथवा इसकी उपयोगिता का मर्म नहीं समझा था। इन विविध चिह्नों के संगतिपूर्ण संस्थापन एवं उचित व्यवहार के अभाव के कारण ही कई लेखकों की भाषा शैली अशक्त-सी मालूम पड़ती थी। पं० प्रतापनारायण मिश्र की कृतियों में इसका रूप कहीं भी देखा जा सकता है। द्वितीय उत्थान में आकर हिन्दी के लेखकों में इस विषय में सुधार की बड़ी तत्परता दिखाई पड़ी।

इस युग की प्रधान विशेषता यह थी कि इसमें कुछ तो उत्तर भारतेन्दुकाल के लेखक लिखते चले आ रहे थे; जैसे पं० गोविन्द-नारायण मिश्र, बा० बालमुकुन्द गुप्त आदि और कुछ नए लोग भी योग देने लगे थे। यदि प्रकृति के विचार से कहा जाय तो बीसवीं शताब्दी के इस प्रथम चरण को हम हिन्दी गद्य के विकास क्रम का संधिकाल कह सकते हैं अथवा इसे आधुनिक हिन्दी साहित्य का आमुख काल भी स्वीकार कर सकते हैं। नाटक उपन्यास (जिसमें अनुवादों को भी समेट लिया जाना चाहिए) कहानी, निबंध और आलोचना आदि गद्य के जितने भी रचना-प्रकारों के भेद भारतेन्दुयुग में चल निकले थे वे सभी अपनी गतिविधि को उत्तरोत्तर विकासोन्मुख बनाए आगे चलते गए। परन्तु एक बात अवश्य स्वीकार करनी होगी कि प्रायः सभी रचना प्रकारों में निर्माण करने वाली शक्ति अपेक्षाकृत कुछ धीमी हो गई थी। यह युग एक प्रकार से उस बीच वाली सीमा पर खड़ा था जहाँ से पीछे देख कर आगे की संभावना को गठित किया जा सकता था।

इस युग में आकर विविध प्रकार की रचनाओं का निर्माण इतना अधिक होने लगा था कि अच्छा होगा यदि उनका विकास-क्रम अलग-अलग उपस्थित किया जाय। जहाँ परिमाण की अधिकता है वहीं भिन्न-

भिन्न कृतिकारों के रचना-कौशल में भी बड़ा उतार-चढ़ाव लक्षित होता है; अतएव अच्छा होगा कि हम गद्य-साहित्य को इतिहास, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध और आलोचना के विभागों में पृथक्-पृथक् समझें।

नाटक

उत्तर भारतेन्दु काल में आते-आते गद्य-रचना के क्षेत्र में वस्तु-स्थिति कुछ बदलने लगी थी। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा की 'मनोरंजन पुस्तक माला' आदि के द्वारा इस बात का पता लग जाता है कि उस समय लेखकों का ध्यान शुद्ध साहित्यिक कृतियों की ओर से थोड़ा हट कर विविध प्रकार के जीवन और जगत् से सम्बन्ध रखने वाले अन्य उपादेय एवं व्यावहारिक विषयों की ओर भी जाने लगा था। 'सरस्वती' आदि तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं की अभिरुचि भी इसी प्रकार की दिखाई पड़ती थी कि विविध विषयक ज्ञान-वर्धन का सामान अधिक सामने लाया जाय। आर्यसमाज आदि के धर्म-प्रधान प्रचार से साहित्य-सर्जना में व्याघात ही उपस्थित हुआ। साथ ही अंगरेजी, संस्कृत, बँगला आदि अन्य देशी विदेशी ग्रंथों अथवा रचनाओं के अनुवादों की ओर लोगों की प्रवृत्ति बढ़ी क्योंकि अनुवाद के माध्यम से प्रौढ़ कृतियों के रसास्वादन का आकर्षण प्रबल हो रहा था। इसका बड़ा स्वस्थ प्रभाव हिन्दी-गद्य के प्रसार पर दिखाई पड़ा। पाठकों और अध्येताओं की अभिरुचि अधिक परिष्कृत हो उठी और उसी कोटि की रचनाओं की माँग हिन्दी में भी होने लगी। दूसरी ओर अन्य साहित्यों की उच्चता और कलात्मक रचना-विधान के सम्पर्क में हिन्दी के लेखक भी आने लगे और उनमें प्रेरणा जगने लगी कि अधिक कौशलपूर्ण कृतियाँ पैदा करें—नाटक, उपन्यास आदि सभी प्रकार की।

यदि नाटक के भीतर ही देखा जाय तो मालूम होगा कि अंगरेजी, बँगला और संस्कृत से सैकड़ों नाटकों के अच्छे अनुवाद उस समय हिन्दी

में हुए। ये सभी अनुवाद उत्तम कोटि के नहीं स्वीकार किए जा सकते पर अवश्य ही उनमें बहुत से ऐसे भी थे जो अनुवाद रूप में आकर भी यथेष्ट सुरुचिपूर्ण और मूल कृति के समीप थे। जयपुर के पुरोहित गोपीनाथजी ने शेक्सपियर के रोमियो जूलियट्, ऐज यू लाइक् इट्, और मर्चेण्ट आफ वेनिस के, और मथुराप्रसाद चौधरी (प्रेमघन के छोटे भाई) ने मैकबेथ के अनुवाद किए थे। जयंत नाम से हैमलेट भी अनूदित हुआ था। इसी तरह संस्कृत की प्रमुख और बहुत-सी नाटकीय कृतियाँ हिन्दी में भाषान्तरित हुईं। लाला सीताराम (१८५८–१९२७) ने बहुत से अनुवाद किए—नागानन्द, मृच्छ-कटिक, महावीर चरित, उत्तररामचरित, मालतीमाधव आदि। उस समय सत्यनारायण कविरत्न के उत्तर रामचरित और मालती माधव की भी बड़ी सराहना हुई। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने वेणीसंहार और अभिज्ञान शाकुंतल के अनुवाद प्रस्तुत किए। इनके अतिरिक्त शीतलाप्रसाद ने प्रबोध-चन्द्रोदय को और रामेश्वर भट्ट ने रत्नावली को, अनूदित किया। बँगला भाषा के भी बहुत से नाटक हिन्दी में आए। इन अनुवादों के भीतर जो अभीष्ट बात थी वह यह थी कि सामान्य पाठकों की अभिरुचि तत्कालीन फैलती हुई पारसी कंपनियों की ओर से हटाई जाय। इसी उद्देश्य को लेकर बाबू रामकृष्ण वर्मा ने राजकिशोर डे कृत पद्मावती, द्वारिकानाथ कृत वीर नारी, मधुसूदन दत्त कृत कृष्णाकुमारी का, उदित-नारायणलाल ने मनमोहन वसु कृत सती नाटक, दीपनिर्वाण और अश्रुमती का, अनुवाद किया। पं० रूपनारायण पाण्डेय के किए हुए कई बँगला नाटकों के अनुवाद बड़े प्रसिद्ध हुए, जैसे—उस पार, शाहजहाँ, दुर्गादास, ताराबाई आदि। इसी तरह बाबू रामचन्द्र वर्मा द्वारा प्रस्तुत की हुई रचनाओं को भी बड़ी ख्याति प्राप्त हुई।

द्वितीय उत्थान के अंतर्गत मौलिक नाटकों की बहुत सी कृतियाँ तैयार हुईं पर जैसा कहा जा चुका है यह युग संधि स्थल था इसलिए इस समय तक कुछ भारतेन्दुयुगीन प्रवृत्तियाँ चली आ रही थीं और

कभी-कभी भविष्य की रूपरेखा का आभास देने वाली ऐसी रचनाएँ भी सामने आ जाती थीं जिनमें नूतन उन्मेष और रचना विधान की भी कुछ विशेषताएँ दिखाई पड़ जाती थीं। पं० किशोरीलाल गोस्वामी के 'चौपट चपेट' में सामाजिक हीनताओं के व्यंग्यात्मक उद्घाटन को लेकर प्रहसन लिखा गया था और लम्पटों के व्यभिचार की ही कथा कही गई थी। उनका दूसरा नाटक 'मयंक मंजरी' शृंगार रस की कृति थी और उसमें पाँच अंक थे। इसमें मयंक मंजरी और वीरेन्द्रसिंह की प्रेमकथा वर्णित हुई थी। पृष्ठभूमि तो ऐसी थी कि जिसमें जाबालि ऋषि तक के दर्शन हुए थे। पर बीड़ी और चुम्बन की लपेट नितांत आधुनिक युग की बातें मालूम पड़ती थीं। इनका लिखा एक और नाटक 'नाट्य संभव' भी था जिसमें नाटकों की उत्पत्ति की कथा कही गई थी। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी इसी समय दो नाटक लिखे थे—'रुक्मणी परिणय' और 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' परन्तु उनमें न तो कोई रचना-विधान की ही नूतनता दिखाई पड़ी थी और न चरित्र पक्ष ही विशेष व्यक्तित्व-विधायक बन सका था। इनके विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन उचित ही मालूम पड़ता है कि "ये नाटक उपाध्याय जी ने हाथ आजमाने के लिए लिखे थे।"

सामान्यतः इस युग के सभी नाटककार या तो राम और कृष्ण की चरितावली से संबद्ध विषयों की ओर झुके मिलते थे या पुराण और इतिहास से विषयों का आकलन करते दिखाई पड़ते थे। अभी सामाजिक नाटकों को रचने की क्षमता नहीं पैदा हो सकी थी। बा० शिवनन्दन सहाय भी भारतेन्दु युग की देन थे। उन्होंने जो नाटक 'सुदामा चरित्र' लिखा था उसमें नाटकीय संविधानक की गठन उतनी अच्छी नहीं बन सकी थी; हाँ सुदामा के चरित्र का चित्रण कुछ अवश्य ठीक था। पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'प्रभास मिलन' 'मीराबाई' और 'लल्लाबाबू' तीन नाटक लिखे जिनमें तीसरा तो प्रहसन के ढंग की चीज़ था और 'मीराबाई' में उसकी भक्तिभावना का चित्रण ही प्रमुख वस्तु थी। 'प्रभास मिलन'

इन सबों में अधिक साफ था और उसमें कुछ मार्मिक प्रसंगों का उद्‌घाटन भी अच्छा हुआ था। इनके बड़े भाई रामचरितमानस के प्रसिद्ध टीकाकार पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र का लिखा 'सीता वनवास' नाटक भवभूति के 'उत्तर रामचरित' के आधार पर लिखा मालूम पड़ता है। पर उसमें कारुण्य की उतनी अच्छी व्यंजना स्फुटित नहीं हो सकी जितनी चाहिए। पं० माधवप्रसाद शुक्ल के 'महाभारत' में कुछ आधुनिकता का स्पष्ट आभास मिला। इसमें कथा तो वही पुरानी ग्रहण की गई थी, पर रंगमंचीय व्यवस्था से यह साफ मालूम पड़ता था कि रचयिता इसे अभिनेय बनाने में पूरा प्रयत्नशील है। पात्रों की व्यक्तिगत वृत्तियों की ओर भी पर्याप्त दृष्टि रखी गई दिखाई पड़ती थी।

नाटकीय अभिनय और रंगमंच का विचार कर लिखने वालों में दो लेखकों का उल्लेख आवश्यक है—पं० बदरीनाथ भट्ट और माखनलाल चतुर्वेदी। भट्ट जी ने अपने 'कुरुवन-दहन' में वेणी संहार का बहुत कुछ उलटफेर किया है और अपनी परिहास वृत्ति से नया ठाट उसमें पैदा कर दिया है। पर एक बात जो इन सभी कृतिकारों में समान रूप से दिखाई पड़ती थी वह यह थी कि तत्कालीन पारसी कंपनियों की गति-विधि का प्रभाव सब पर पड़ा था। कहा जा सकता है कि इस संधिकाल के नाटकों में साहित्यिकता के साथ रंगमंच विषयक साजसज्जा की ओर भी बराबर ध्यान बना रहा। भट्टजी का लिखा प्रसिद्ध नाटक था—चंद्र-गुप्त; जिसमें ऐतिहासिकता पूर्णतया भले ही न उभड़ सकी हो पर वस्तु-विन्यास कुछ गठित था और प्राचीन एवं नूतन रचना-विधान के समन्वय की आकांक्षा भी स्पष्ट लक्षित होती थी। इतिहास के चन्द्रगुप्त और चाणक्य का पूरा परिचय इस नाटक के माध्यम से नहीं हो पाता—यही इसका सब से बड़ा दोष मानना चाहिए। इनका दूसरा प्रसिद्ध नाटक तुलसीदास था, जिसकी कथावस्तु मूलतः किंवदन्तियों और जनश्रुतियों पर आधारित थी और नाना प्रकार की अलौकिकता से भरीपुरी थी। इनके अन्य दो नाटक हैं—बेनचरित और दुर्गावती। इसमें दूसरी कृति

अधिक प्रशंसित हुई। उसमें वस्तुविधान भी अपेक्षाकृत अधिक अच्छा था और पात्रों का व्यक्तित्व भी कुछ अधिक खुल सका था। पं० माखन लाल जी की एक मात्र कृति 'कृष्णार्जुन युद्ध' है पर यह एक ही कृति चतुर्वेदी जी की कुशलता का अच्छा परिचय उपस्थित कर देती है। यह कई बार अनेक स्थानों पर अभिनीत हुई और विविध पाठ्यक्रमों में भी बहुत चली। कथानक संगठन और चरित्रांकन की दृष्टि से यह रचना सामान्यतया ठीक है और रंगमंच पर आ कर भी आद्यंत आरोचक बनी रह सकती है। मिश्रबंधुओं के लिखे भी कई नाटक 'नेत्रोन्मीलन' आदि हैं पर उनकी गठन भी साधारण है और युग धर्म के सर्वथा अनुरूप ही उनका चित्रण है। इस नाटक में न्यायालयों की अनेक कमजोरियों और विकृतियों का चित्रण उभाड़ा गया है, वकीलों का फँसावड़ा कितना विचित्र होता है कि उसमें से निकल सकना बड़ा कठिन हो जाता है आदि बातें ही विस्तार से वर्णित हैं। नूतन उन्मेष मिश्रबंधुओं में बिलकुल नहीं दिखाई पड़ा।

इन प्रमुख नाटककारों के अतिरिक्त भी एक-एक करके सैकड़ों नाटक द्वितीय उत्थान की सीमा के भीतर लिखे गए और प्रकाशित हुए। इनमें से अब तो बहुतों के दर्शन दुर्लभ ही समझिए। इनमें न तो विषय का अधिक सौन्दर्य मिलेगा और न आधुनिक रचना-विधान का कौशल ही। पर इनका ऐतिहासिक मूल्य अवश्य है। कथानकों के विचार से किया गया इन नाटकों का विभाजन नितांत स्थूल होने पर भी है वृत्ति का परिचायक, जैसे रामधारा, कृष्णधारा, पौराणिक, ऐतिहासिक आदि। उस काल के अगणित नाटक इस प्रकार खतियाए जा सकते हैं। इस प्रकार का प्रयास डा० सोमनाथ गुप्त ने अपने 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' में किया है। अभिरुचि वाले लोग इस प्रकार की विभाजित सूची वहाँ से देख सकते हैं।

हिन्दी नाट्य-रचना-विधान पर व्यापक प्रभाव डालने वाली एक बात जिसका उल्लेख इस प्रसंग में आवश्यक है वह रंगमंचीय नाटकों की

पैदाइश और बढ़ती का इतिहास है। यों तो भारतेन्दु काल ही में नाटकों के अभिनीत होने की प्रथा चल पड़ी थी और लखनऊ में 'इन्दर सभा' और काशी में 'जानकी मंगल' आदि के खेलने की चर्चा चली आ रही थी पर प्रथम उत्थान से पूर्व ही कुछ पारसियों की प्रेरणा से १८७० के लगभग सेठ पेस्टनजी फ्रामजी के स्वामित्व में बम्बई में एक कंपनी इसी अभिप्राय से खोली गई कि वह घूम घूम कर देश भर में नाटक दिखाया करे। इस कम्पनी के प्रसिद्ध अभिनेताओं में कावसजी सोहराब जी आदि थे। इनके लिए नाटक तैयार करने वालों में बनारस के मोहम्मद मियाँ 'रौनक' और हुसैन मियाँ 'जरीफ' मुख्य थे। 'रौनक' के लिखे 'इंसाफेमहमूद' की उस समय कीर्ति फैली थी। रंगमंच पर खेलने के लिए अंगरेजी से भी कई नाटकों के अनुवाद हुए थे और 'जरीफ' ने तो बहुत से नाटक तैयार किए थे, जैसे—खुदा दोस्त, चाँद बीबी, शीरीं फरहाद, बुलबुले बीमार, अलीबाबा, लैला मजनूँ, हातिम ताई, बदरे, मुनीर, इशरत सभा आदि। आगे चल कर दिल्ली के प्रसिद्ध अभिनेता खुरशेदजी बल्लीवाला ने अपनी 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कंपनी' खोली और रुस्तमजी के साथ स्वयं अभिनय करने लगे। इसमें प्रमुख नाटककार काशी के मुंशी विनायकप्रसाद 'तालिब' थे जिन्होंने पहले तो कई उर्दू के नाटक लिखे पर जनता की माँग होने पर—गोपीचन्द, हरिश्चन्द, रामायण आदि नाटक भी लिखे। उधर दूसरे पारसी अभिनेता कावस जी खटाऊ ने भी अपनी आल्फ्रेड थियेट्रिकल कंपनी चलाई जिसमें दिल्ली वाले पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' भी नाटककार के रूप में संयुक्त थे। 'बेताब' की प्रसिद्धि के कारण उनके लिखे—महाभारत, कृष्ण सुदामा आदि अनेक नाटक थे। इसी समय 'न्यू आल्फ्रेड कंपनी' के नाम से सोहराबजी ने एक कंपनी अपनी अलग खड़ी की जो कुछ दिनों तक बड़े जोरशोर से तमाशा दिखाती रही। इसके मुख्य नाटककार-रूप में काश्मीरी आगा मुहम्मद 'हश्र' और पं० राधेश्याम कथावाचक थे। दोनों ने प्रायः दर्जनों नाटक लिखे जिसमें कथावाचक जी के 'सूरदास'

'आँख का नशा' 'गंगा औतरण' और 'श्रवण कुमार' की अत्यधिक ख्याति हुई। उस समय इस प्रकार की अनेक व्यावसायिक नाटक-मंडलियाँ पैदा हुईं और विलीन हो गई थीं।

इन व्यावसायिक पारसी नाटक मण्डलियों का हिन्दी वालों पर अच्छा और बुरा दोनों प्रकार का प्रभाव पड़ा। अच्छा प्रभाव तो इसे मानना चाहिए कि उन्हें इस क्षेत्र में भी कुछ करना है इस बात की प्रेरणा मिली और उनका धड़का खुला; कुछ रंगमंचीय नाटक लिखने-वाले सामने आए। पं० राधेश्याम कथावाचक, पं० नारायण प्रसाद बेताब, आगा हश्र काश्मीरी, कृष्णचन्द्र 'जैवा', तुलसीदत्त शैदा और हरिकृष्ण जौहर ऐसे उद्भट नाटककार पैदा हो गए। साथ ही इन कंपनियों की प्रतिस्पर्धा में कई हिन्दुओं ने भी कंपनियाँ खोलीं। ऐसी कंपनियों में जिनकी उस समय बड़ी प्रशंसा हुई सूरविजय कंपनी और व्याकुल थियेट्रिकल कंपनी थीं। दूसरी के सर्वेसर्वा मेरठ के प्रतिभाशाली अभिनेता और कुशल नाटककार विश्वम्भर सहाय जी 'व्याकुल' थे। उनके लिखे 'बुद्धदेव' नाटक ने धूम मचा दी थी। उनकी इस मण्डली में काशी के भी कुछ प्रवीण अभिनेता जा मिले थे। इन दोनों कंपनियों का उद्भव ही इस अभिप्राय को लेकर हुआ था कि पारसी कंपनियों के तमाशों को देख कर जो कुरुचि की बाढ़ फैल रही थी उसे रोका जाय और कुछ स्वस्थ भावनाएँ जगाई जायँ। पारसी कंपनियों का बुरा प्रभाव यह पड़ा कि साहित्यिक नाटककारों तक में निरर्थक और अप्राकृतिक व्यापार-प्रदर्शन, अयथार्थ संवाद आदि का प्रवेश होने लगा। आजकल के हीन सिनेमावालों की तरह कंपनियों के मालिकों का ध्यान पैसा कमाने की ओर अधिक था। इसलिए तरह-तरह से तड़क-भड़क वाली बातें ही वे अधिक एकत्र करते थे, कुरुचिपूर्ण गानों की व्यवस्था करते थे और फूहड़ और भद्दे मजाकों के दृश्यों को अवश्य उपस्थित करते थे। थोड़े में कहा जा सकता है कि वे परिष्कृत विचारों को उद्दीप्त न कर निम्न कोटि की चमत्कारप्रियता ही पैदा करते थे।

इन व्यावसायिक नाटक कंपनियों के खेल देख-देखकर जो जागरण उस समय के शिक्षित और परिष्कृत बुद्धिवालों में उत्पन्न हुआ उसका स्वस्थ परिणाम यह हुआ कि कानपुर, प्रयाग, काशी आदि में ऐसी अव्यावसायिक संस्थाओं की नींव पड़ी जो आगे चलकर कई रूपों में उपकारी सिद्ध हुईं। केवल काशी में तीन नाटक मण्डलियों की स्थापना हुई—भारतेन्दु नाटक मण्डली, नागरी नाटक मण्डली और जायसवाल नाटक मण्डली। इन मण्डलियों ने दर्जनों नाटकों के अभिनय किए और इनके अभिनयों की चर्चा बाहर भी बहुत फैली। इन्हीं के भीतर अनेक कुशल अभिनेता और रंगमंचीय नाटककार उत्पन्न हुए। नागरी नाटक मंडली के बा० आनंदप्रसाद कपूर और हरिदास माणिक ने दर्जनों नाटक लिखे हैं। जायसवाल नाटक मण्डली के शिवरामदास के भी लिखे बहुत से नाटक हैं। इस तरह स्वीकार किया जा सकता है कि उस समय जो अभिनेय नाट्यकृतियों का प्रचलन, रचना और अभिनय, तरंगित हुआ इसका स्वस्थ और सांस्कृतिक प्रभाव भी स्थायी रूप से सुरक्षित बन गया।

द्वितीय उत्थान के नाटकों की चर्चा समाप्त करने के पूर्व इस बात का संकेत कर देना आवश्यक है कि ई० सन् १९२५ के भीतर ही उन श्रेष्ठ कलाकारों ने भी अपनी रचनाओं का कार्य आरम्भ कर दिया था जिनका विशिष्ट कृतित्व आगे चलकर हिन्दी गद्य के तृतीय उत्थान में पूर्णतया प्रतिष्ठित हुआ, उदाहरण के लिए बाबू जयशंकर प्रसाद को लिया जा सकता है। १९१० और १९१४ के बीच में इन्होंने आरंभिक चार एकांकियों का प्रणयन किया था—'सज्जन' 'कल्याणी परिणय' 'करुणालय' और 'प्रायश्चित्त'। प्रसादजी की ये रचनाएँ आरंभिक एवं प्रयोगात्मक थीं। इनको लिखकर उन्होंने आजमाइश की थी कि किस ढर्रे पर भविष्य में चलना चाहिए। आगे चलकर १९१५ में ही उन्होंने 'राज्यश्री' लिखा और १९२१ में उनका 'विशाख' नाटक निकला। इस प्रकार देखा जा सकता है कि इस द्वितीय उत्थान के भीतर ही भावी

तृतीय उत्थान के पुष्ट बीज पड़ चुके थे; आगे के लिए पल्लवन एवं विस्तार बच रहा था।

उपन्यास

भारतेन्दु युग में ही मौलिक और अनूदित उपन्यासों की सृष्टि आरम्भ हो गई थी। स्वयं भारतेन्दु की प्रेरणा से कई बँगला के उपन्यासों का अनुवाद किया गया था।

उस समय के प्रमुख अनुवादकों में पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह' 'इन्दिरा' 'राधारानी', 'युगलांगुरीय' आदि, राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा' 'जावित्री' 'मृण्मयी' आदि, राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता' 'मरता क्या न करता' आदि, उपन्यासों के अनुवाद किए थे। उसके उपरांत तो अनुवादों की एक अटूट परंपरा चली और बँगला मराठी, उर्दू, अँगरेजी के सैकड़ों उपन्यासों के अच्छे अनुवाद हिन्दी में आए। सन् १८६०-१६०० के बीच की ऐसी रचनाओं की लम्बी तालिका बनाई जा सकती है। उस समय के अन्य विशिष्ट अनुवादकों में मुख्य थे—रामकृष्णवर्मा, गोपालराम गहमरी, कार्तिकप्रसाद खत्री, अयोध्यासिंह उपाध्याय, और मेहता लज्जाराम। इनकी बहुत सी अनूदित कृतियाँ देखने में आई थीं। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने एक-एक उपन्यास ही लिखे पर उस बाढ़ में इन लोगों ने भी वृद्धि की, यह निश्चय है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक से यह अनुवाद-परंपरा आगे बढ़ती गई और द्वितीय उत्थान के भीतर भी इसने बड़ा काम किया। कुछ तो पुराने सिद्धहस्त अनुवादक चले ही आ रहे थे उनकी पंक्ति में योग देनेवाले नए लोग भी आ मिले। इन नए लोगों में जिन्हें पूरी सफलता और यश मिला उनमें प्रमुख थे—ईश्वरीप्रसाद शर्मा, रूपनारायण पाण्डेय, गंगाप्रसाद गुप्त और रामचंद्र वर्मा।

यही स्थिति मौलिक कृतियों के प्रसार में भी थी। लाला श्रीनिवासदास एवं बालकृष्ण भट्ट ने मौलिक उपन्यासों की रचना की थी। इनके

अतिरिक्त यदि इतिहास-क्रम का कड़ाई से विचार किया जाय तो स्वीकार करना पड़ेगा कि द्वितीय उत्थान की सीमा के भीतर अपना पूर्ण प्रभाव प्रसारित करने वाले पं० किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२) बा० देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३) और बा० गोपालराम गहमरी (१८५६–१९४५) ने भी अपनी-अपनी रचनाओं का क्रम इसी युग में आरम्भ कर दिया था और उनकी कई रचनाएँ प्रकाशित भी हो चुकी थीं। अपने-अपने ढंग के इन तीनों महा उद्भट हिन्दी के आरंभिक उपन्यासकारों ने उपन्यास-रचना की नींव सुदृढ़ बना दी थी और भविष्य के लेखकों के लिए भव्य मार्ग का प्रदर्शन कर दिया था। इन तीनों लेखकों ने अपने-अपने क्षेत्र बना लिए थे और उसके सजाव-शृंगार के समस्त आयोजन एकत्र कर लिए थे। इन तीनों कृतिकारों ने इतना अधिक स्वयं लिखा कि उनके अलग-अलग स्कूल या वर्ग स्थापित हो गए थे।

इस युग में जिनकी रचनाओं को अत्यधिक ख्याति मिली वे थे काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री। द्वितीय उत्थान के पूर्व ही ये कई उपन्यास लिख चुके थे, इनमें नरेन्द्रमोहिनी, कुसुम कुमारी और वीरेन्द्रवीर प्रमुख थे। फिर तो आगे चल कर जब इनकी 'चन्द्रकांता' (चार भाग), 'चंद्रकांता संतति' (चौबीस भाग), 'भूतनाथ की जीवनी' (इक्कीस भाग) आदि अमर कृतियाँ उपस्थित हुईं तब तो इनके नाम की धूम मच गई। इन उपन्यासों के जितने संस्करण अब तक प्रकाशित हुए हैं शायद ही किसी अन्य उपन्यास के उतने प्रकाशित हुए हों। इन तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों का लक्ष्य घटना का वैचित्र्य अथवा कुतूहलत्व का उत्कट आवेग पैदा करना रहता था, भावचित्रण अथवा चारित्र्योद्घाटन के द्वारा कोई स्थिर प्रभाव उत्पन्न करना नहीं। परन्तु इनका अपना ऐतिहासिक महत्त्व हिन्दी में स्थापित हो गया। नितांत व्यावहारिक भाषा और वह भी सर्वत्र एकरूप और एक शैली की निबाही गई है। हिन्दी-उर्दू का साधारण से साधारण

भी ज्ञान जिनमें था वे बड़ी अभिरुचि और आकर्षण के साथ इन उपन्यासों को पढ़ कर तन्मय हो उठते थे; खाना-पीना उनका छूट जाता था। न जाने कितने लोगों ने उस समय हिन्दी का अक्षर-ज्ञान केवल इसलिए किया था कि इन रचनाओं का आनन्द प्राप्त कर सकें। कथा के प्रवाह को अधिकाधिक विस्मयकारी, रोचक और नित-नूतन रूप देने में खत्रीजी से बढ़ कर कोई हुआ नहीं।

इन उपन्यासों में मूलतः प्रेम-कथा ही वर्णित हुई है। किसी राजकुमारी और राजकुमार के प्रेमोदय, विस्तार और संयोगात्मक अंत का ही चित्रण इनका लक्ष्य है, पर इस अपार रचना-प्रसार में कहीं भी न तो राजकुमारों और राजकुमारियों के रूप, रंग और शारीरिक चित्र-विधान में किसी प्रकार की वासनात्मक विवृति दिखाई पड़ती है और न उनके वैयक्तिक संबंधों के विवरण में ही किसी प्रकार की वासनापूर्ण आंतरिक बुभुक्षा को जगाने की चेष्टा की गई है। प्रेमी और प्रेमिका तिलस्मी और ऐयारी के नाना फंदों में फँसे और दुर्घट व्यापारों के चक्कर में पड़े अपने-अपने हृदय की अनुरागी वृत्तियों को सुरक्षापूर्वक समेटे सामने के अवरोधों से लड़ते चले चलते हैं; एक से निकले तो दूसरे में और दूसरे से निकले तो तीसरे झमेले में पड़ते आगे बढ़ते हैं। सारी कथा की यही दौड़ दिखाई पड़ती है। आश्चर्यपूर्ण क्रियाकलापों के बीच-बीच प्रसंगों के अनुरूप अथवा वस्तुस्थिति के आग्रह पर पहाड़ों, नदियों, सुरंगों, अथवा महलों, उपवनों आदि के थोड़े बहुत चित्रण-वर्णन भी मिलते जाते हैं। साथ ही विविध प्रकार की कलाबाजियों में निपुण ऐयारों के एक से एक अद्भुत करिश्में सामने आते रहते हैं और गरीब पाठक विस्मयविमुग्ध कथा-धारा में असहाय बहता चला जाता है। थोड़े में यही विशेषता है इन अद्भुत उपन्यासों की। कथा भाग की कड़ियों को तत्परतापूर्वक जोड़ते चलना और भाषा-बल से बोधकता को नितांत सरल बनाए रखना ही लेखक का मूल रहस्य मालूम पड़ता है; इसीमें उसकी प्रतिभा दिखाई पड़ती है।

घटना-वैचित्र्य के द्वारा कुतूहल-वर्धन कर कथा के क्रम को अग्रसर करते चलना और निरंतर पाठक को द्विधा में डाले रखना ही प्रमुख विशेषता थी बाबू गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यासों की। ये दूसरे उपन्यासकार हैं—अपने ढंग के निराले और रोचकता उत्पन्न करने में पूर्ण सफल। अंगरेजी में इस प्रकार की रचनाओं की चलन हो चुकी थी और हिन्दी में भी बाबू रामकृष्ण वर्मा के 'ठग वृत्तांतमाला,' 'पुलिस वृतांतमाला' आदि अनुवाद निकल चुके थे, इससे हिन्दी के पाठकों की अभिरुचि इस ढंग के उपन्यासों की ओर बढ़ रही थी। गहमरी जी ने इस अभिरुचि-प्रसार को समझा; इसी कोटि की सर्जना की ओर बढ़े और वहीं घर कर के बैठ गए। आगे चल कर 'जासूस' नामक एक पत्र भी निकालने लगे थे जिसमें टुकड़े-टुकड़े करके वे अपनी रचनाएँ निकाला करते थे। पाठक आगे के अंक की प्रतीक्षा में पड़ा रहता था और जब तक कथा-सूत्र का प्रसार नहीं पा लेता था तब तक वह नाना प्रकार के तर्क-वितर्क में अपने को उलझाए रहता था। इस प्रकार के उपन्यासों में भी मूलतः वैसा ही घटना-वैचित्र्य होता है, जैसा तिलस्मी और ऐय्यारी उपन्यासों में, पर इनमें बुद्धि और तर्क-संगत कल्पना का अधिक योग रहता है। रोमांचपूर्ण कोई हत्या, डाका और चोरी हुई, वह क्यों और कैसे हुई, उसके भीतर रहस्य की क्या-क्या बातें हैं आदि को लेकर इनमें कथा विस्तार पाती है। उसके भीतर नाना प्रकार से कुतूहल वृत्ति को जगाने और अधिकाधिक बुद्धि विषयक झमेलों में पाठकों को डालने के फेर में लेखक लगा रहता है। आशा-निराशा का ऐसा घटाटोप इसमें पैदा किया जाता है कि पाठक द्विधा में पड़ा आदि से अंत तक उलझा-उलझा चलता है; और अंत में आ कर जब देखता है कि उसकी पूर्ववाली सारी धारणाएँ निर्मूल हो जाती हैं तो आश्चर्यचकित हो कर नए सिरे से सब घटनाओं एवं परिस्थितियों का पुनः आकलन और आलोड़न करने लगता है। गहमरी जी ने इस प्रकार की अनेक पुस्तकों

के अनुवाद किए और स्वतंत्र ढंग से भी बहुत सी पुस्तकें लिखीं।

"उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी हैं।" इनमें अपने उपन्यासों की कथावस्तु के अनुरूप युगधर्म के सजाने की क्षमता दिखाई पड़ी थी। इनके संवादों में सजीवता और विदग्धता, चरित्रांकन में कुछ व्यक्तिगत विशेषताओं के उभाड़ने की शक्ति, इतिहास की पृष्ठभूमि को अपना कर उसके साथ कथानक की संगति बैठाने की हलकी-सी आकांक्षा और उसे एक निश्चित उतार-चढ़ाव से आबद्ध करने की पटुता दिखाई पड़ती है। थोड़े में कहा जा सकता है कि उनकी कृतियों को शुद्ध साहित्य की कोटि के भीतर लिया जा सकता है। गोस्वामी जी अच्छे कवि और लेखक थे। इस उत्थान के पूर्व ही उन्होंने एक 'उपन्यास' मासिक पत्र निकाला था और आगे चल कर 'सरस्वती' के पंचायती संपादकों में भी एक थे। इन्होंने छोटे बड़े मिला कर प्रायः चार-पाँच दर्जन उपन्यास लिखे हैं; उनमें सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों हैं।

गोस्वामी जी के प्रमुख उपन्यासों की तालिका इस प्रकार है—त्रिवेणी, स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी, लवंग लता, सुखशर्वरी, तारा, चपला, तरुण तपस्विनी, रजिया बेगम, लीलावती, राजकुमारी, हृदय हारिणी, हीराबाई, लखनऊ की कब्र, मल्लिका देवी वा बंग सरोजिनी, कटे मूँड़ की दो दो बातें, कनक कुसुम, लावण्यमयी, चन्द्रावती, चन्द्रिका आदि। इनमें से किसी में सनातनधर्मी दृष्टिकोण, किसी में कल्पना का उद्रेक, किसी में सामाजिक कुरीतियों का उद्घाटन, किसी में ऐय्यारी का लटका, किसी में भारतीय नारी का साहस-संयम, किसी में शुद्ध रोमांचकारी वातावरण की ओर प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। न तो विषय के ग्रहण में कोई सिद्धान्त मिलता है न जीवन का कोई निश्चित धरातल ही प्रतिष्ठित हो पाता है। सभी रचनाओं के मूल में लक्ष्य की अधिष्ठात्री देवी की तरह कोई न कोई रमणी ही दिखाई पड़ती है, वह चाहे रजियाबेगम हो चाहे चपला। इसका परिणाम इन उपन्यासों में यह दिखाई पड़ता है

कि वासनामूलक वृत्तियों के उफनने और अनियंत्रित होकर जिधर चाहे उधर बहने का अवसर अधिक मिला है। जीवन तो सजीव और स्वस्थ नहीं हो सका पर नायक-नायिकाएँ अवश्य हिलती-डोलती मिलती हैं—न तो उनमें अपनापन उभड़ सका है और न वे प्रतीक ही बन पाई। थोड़े में कहा जा सकता है कि उत्कर्ष—किसी भी कोटि का नहीं है; अपकर्ष के लिए भूमि तैयार मिलती है। यही कारण है कि गोस्वामी जी के चपला आदि उपन्यासों के प्रति उस समय बा० बालमुकुन्द गुप्त ने अपने पत्र में अनेक आक्षेप किए थे और समाज के लिए उसे अकल्याणकर घोषित किया था।

उनकी भाषा के विषय में भी आलोचक बहुत प्रसन्न नहीं दिखाई पड़ते। शुक्ल जी का मत इस विषय में उल्लेखनीय है—"एक और बात जरा खटकती है। वह है उनका भाषा के साथ मज़ाक। कुछ दिन पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक हुआ। उर्दू भी ऐसी वैसी नहीं, उर्दू-ए-मुअल्ला। × × × × हम यह भी कर सकते हैं वह भी कर सकते हैं—इस हौसले ने जैसे बहुत से लेखकों को किसी एक विषय पर पूर्ण अधिकार के साथ जमने न दिया, वैसे ही कुछ लोगों की भाषा को बहुत कुछ डाँवाडोल रखा, कोई एक टेढ़ा-सीधा रास्ता पकड़ने न दिया।" इस प्रकार की जितनी भी आलोचनाएँ समय समय पर विद्वानों ने की हैं उनमें सत्य है पर विचार की एक बात और है जिसका सहृदयतापूर्वक विचार आवश्यक है। जिस युग का कृतिकार हो उस युग तक की साहित्यिक गतिविधि अथवा विकास क्रम के अनुरूप ही उससे माँग की जानी चाहिए। बाबा तुलसीदास से जब समाजवादी साम्यवाद माँगा जाता है तब जैसा अप्रिय लगता है कुछ उसी प्रकार की अप्रियता मालूम पड़ती है गोस्वामी जी से आधुनिक स्तर की माँग होती देखकर। वह युग था रचनाओं की बाढ़ का और साहित्यिक अनेकरूपता का। अपने समय के प्रवाह के विचार से गोस्वामी किशोरीलाल जी ने स्तुत्य कार्य किया था।

इन बहुत लिखनेवालों के बाद कुछ लिखनेवाले ऐसे भी थे जो मूलतः उपन्यासलेखक नहीं थे पर जिन्होंने मन फेर करने के अभिप्राय से कुछ इस ढंग की चीज़ें भी लिख दी थीं। प्रसिद्ध कवि और गद्य लेखक पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी कहने के लिए दो उपन्यास लिखे थे—'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल'। पर भाषा के प्रयोग के विचार से ही इनके महत्त्व का निरूपण होना चाहिए, शुद्ध औपन्यासिक रचना-विधान की दृष्टि से नहीं। उस समय के आई. सी. एस. के परीक्षार्थियों को भारत की भाषा के व्यावहारिक रूप को समझने में ये पुस्तकें सहायता करती थीं और इस प्रकार की परीक्षाओं में उनकी उपयोगिता मानी जाती थी। पं० लज्जाराम जी मेहता ने भारतीय संस्कृति का औपन्यासिक चित्र उपस्थित करने के अभिप्राय से कई उपन्यास लिखे थे—धूर्त रसिकलाल, आदर्श दंपति, बिगड़े का सुधार और आदर्श हिन्दू। इसी समय बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने "काव्य-कोटि में आनेवाले भाव प्रधान उन्पयास, जिनमें भावों या मनोविकारों की प्रगल्भ और वेगवती व्यंजना का लक्ष्य प्रधान हो—चरित्रचित्रण या घटना-वैचित्र्य का लक्ष्य नहीं—हिन्दी में न देख और बंगभाषा में काफी देख" दो उपन्यास लिखे—'सौन्दर्योपासक' और 'राधाकान्त'।

कहानी

हिन्दी में कहानी-रचना की सृष्टि का आभास सदलमिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान', इंशा अल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' और राजा शिवप्रसाद जी के 'राजा भोज का सपना' से ही मिलने लगा था। आगे चलकर भारतेन्दु युग के विभिन्न लेखकों में भी यदाकदा कहानी-रचना की आंशिक अभिव्यक्ति और उनके प्रकारों के हल्के हल्के रूपों के दर्शन होते रहे, पर कहानी के वास्तविक रूप के गठित न होने के कारण अथवा इस संज्ञा से प्रायः अपरिचित बने रहने के कारण उस

युग के उपन्यास-लेखक लिखते थे मूलतः बड़ी बड़ी कहानियाँ पर उसकी संज्ञा निर्धारित करते थे उपन्यास। दस बीस पृष्ठोंवाली या इसी प्रकार की लिखी गोस्वामी किशोरीलाल जी की कई औपन्यासिक रचनाओं का विवेचन इस आधार पर वांछित है।

कहानी के आधुनिक रूप-गटन की शुद्ध अभिव्यक्ति गद्य के द्वितीय उत्थान में ही आकर हुई थी। सन् १९०० में 'सरस्वती' के आलोकित होते ही कुछ आरंभिक कहानियों के यथासाध्य गटन का रूप देखने में आया। उसके प्रथम पाँच छः वर्षों के अंक इस विषय में बड़े महत्त्व के हैं। शुक्लजी के इतिहास में दी गई आरंभिक कहानियों की तालिका इस प्रकार है—'इन्दुमती' (१९००, किशोरीलाल गोस्वामी) 'गुलबहार' (१९०२, किशोरीलाल गोस्वामी) 'प्लेग की चुड़ैल' (१९०२, मास्टर भगवानदास) 'ग्यारह वर्ष का समय' (१९०३, रामचन्द्र शुक्ल) 'पंडित और पंडितानी' (१९०३, गिरिजादत्त वाजपेयी) 'दुलाईवाली' (१९०७, बंग महिला)। इसके अतिरिक्त क्रमिक और विवरणात्मक सूची डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास' में ठीक ढंग से दी है। आगे के वर्षों में जिनकी कहानियाँ 'सरस्वती' में क्रम से प्रकाशित हुई थीं उनमें प्रमुख थे—वृन्दावनलाल वर्मा, लाला पार्वतीनन्दन, वेंकटेशनारायण आदि।

'सरस्वती' के द्वारा इस प्रकार हिन्दी-कहानी की कथा के आरम्भ हो जाने पर जो आकर्षण की लहर रचना के इस रूप के प्रति पैदा हो गई उसका पूर्ण पोषण उस समय हुआ जब सन् १९०९ में काशी से 'इन्दु' प्रकाशित हुआ और उसमें प्रसाद, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, विश्वम्भरनाथ जिज्जा आदि ने लिखना आरंभ किया। 'इन्दु' के उपरांत 'तरंगिणी' और 'हिन्दी गल्प माला' (१९१८) का भी प्रकाशन 'प्रसाद' की प्रेरणा ही से हुआ। इस योजना में उनके अनन्य सहायक बाबू अम्बिकाप्रसाद गुप्त थे जो निरंतर 'प्रसाद' को ही नहीं अन्य

अनेक लोगों को भी लिखने के लिए विवश करते रहते थे। इन पत्र-पत्रिकाओं की सुखद छाया में आकर कहानी खूब पल्लवित हुई और वहाँ से इसकी अटूट धारा प्रवाहित हुई जो आगे चलकर उत्तरोत्तर विकसित होती गई। स्वयं 'प्रसाद' जी का कृतित्व और योग इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण था। केवल इस द्वितीय उत्थान के भीतर उन्होंने पचीस-तीस कहानियाँ लिखीं जिनमें 'छाया' संग्रह की रचनाएँ तो आरंभिक थीं पर उन्हीं में भावी प्रसाद की संपूर्ण प्रवृत्तियाँ अंकुरित मिलेंगी। इतिहास के अंतराल में प्रवृष्ट होकर अनेक प्रकार के चरित्रों और भावों के सृजन की क्षमता, भावचित्रों के विधान की ओर उन्मेष और विषय के अनुरूप पीठिका सजाने की पटुता—इनका आरंभिक स्वरूप इन कहानियों में सर्वत्र मिलता है। इसी सीमा के भीतर उन्होंने उन कहानियों को लिखा है जो 'प्रतिध्वनि' में संगृहीत हैं और जिनमें हृदयस्पर्शी कोमल और करुण वृत्तियों की अनेकरूपिणी झलकें प्रसाद ने उत्पन्न की हैं। इस संग्रह की ये रचनाएँ स्वयं में एक वर्ग बन गई। इस प्रकार भावात्मक कहानी-रचना के नवविधान की हिन्दी में सर्जना और पूर्ण स्थापना करने वाले प्रसाद जी थे। फिर तो इसकी अखण्ड धारा में अनेक कुशल कृतिकार सामने आए।

'प्रसाद' जी के साथी लिखनेवालों में सूर्यपुरा (बिहार) के प्रवीण सहृदय राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह ने इस उत्थान के भीतर अधिक लिखा नहीं पर अपनी व्यक्तित्व-विधायिनी रचनाशैली के कारण वे बहुत प्रसिद्ध हुए। उनकी लिखी कहानी—'कानों में कंगना' की उस युग में बड़ी प्रशंसा हुई थी। दूसरे कम लिखकर भी प्रसिद्धि पाने वाले कहानी-कार थे पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा जो उस समय तो कुछ कुनमुनाए पर आगे चलकर साहित्य के क्षेत्र से न जाने कहाँ पलायन कर गए। इसी समय हास्यरस की कहानियों का आरम्भ करने वाले हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक जी० पी० श्रीवास्तव ने कई कहानियाँ लिखीं जो केवल हास्यरस की दृष्टि से ही नहीं वरन् मनोविश्लेषणात्मक विचार से भी

अच्छी थीं। 'मैं न बोलूँगी' अथवा 'झूठमूठ' में इन विशेषताओं को ढूँढ़ा जा सकता है। 'हिन्दी गल्प-माला' वाली मंडली में ही सर्वप्रथम दिखाई पड़े थे पं० इलाचन्द्र जोशी जिन्होंने आगे चलकर अधिकाधिक ख्याति प्राप्त की। उस समय (१९१८) उनकी लिखी कहानी 'सजनवाँ' में मनोवैज्ञानिक चित्रण का अच्छा उन्मेष दिखाई पड़ा था। इस द्वितीय उत्थान के भीतर ही मुंशी प्रेमचन्द को भी कहानी-रचना के क्षेत्र में प्रवेश मिल गया था और लोगों की दृष्टि उनकी ओर आकर्षित हो चुकी थी। सन् १९१७ के पूर्व ही उनका 'सप्तसरोज' संग्रह हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से प्रकाशित हो चुका था। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय उत्थान में हिन्दी-कहानी का रूप गठित भी हुआ और उसके स्वरूप में कुछ निखार भी दिखाई पड़ने लगा। उसके आधार पर भविष्य की संभावना का रूप साफ हो चला था।

निबंध

भारतेन्दु युग के निबंधों में जैसी जिन्दादिली, आत्मीयता, उमंग और वैविध्य दिखाई पड़ा था उसके अनुपात में द्वितीय उत्थान तक आते-आते लेखकों का उत्साह कुछ दुर्बल पड़ चला था। इस युग में कुछ तो पुराने अखाड़े के लोग चले आ रहे थे और कुछ नवगठित, अंगरेजी के वातावरण में साँस लेने वाले थे। सारे साहित्य का निर्माण-कार्य सहृदय और भावना-परक क्षेत्र से हटकर बौद्धिक स्तर पर आ रहा था। निर्माण का दृष्टिकोण भी भिन्न हो चला था और प्रवाहवेग के स्थान पर नियंत्रण परिष्कार को स्थान मिल रहा था। साहित्य सर्जना के उन्मुक्त विहार के स्थान पर योजनापूर्वक इधर-उधर देखकर चलने की प्रवृत्ति इस समय अधिक बढ़ रही थी। अभी तक आँख मूँदकर अपनी मौज में अपनी-अपनी गतिविधि के विचार से लेखक लिखते आए थे पर अब किधर कितनी कमी है, हमारा क्या अभाव है, हमारा ध्यान इधर भी जाना चाहिए, उस ओर भी होना चाहिए आदि अनेक कर्तव्यों और

दायित्वों की ओर ध्यान देना आवश्यक हो गया था। इस सबका परिणाम यह हुआ कि इस युग में आकर गद्य-साहित्य की व्यापक सृष्टि में कुछ अवरोध-सा उत्पन्न हो गया। शुद्ध साहित्य-सर्जना की ओर से ध्यान हटकर नाना विषयों की ओर जा लगा। इस युग के विविध कृतिकारों के विषय-निर्वाचन की तालिकाओं को देखने से यह बात ठीक समझ में आ जायगी। इस युग में प्रकाशित होनेवाली पत्र-पत्रिकाओं की विषय-सूची से भी यही बात प्रकट होगी। इस पद्धति से वस्तुस्थिति की विवेचना करने पर यह प्रकट होगा कि द्वितीय उत्थान में ऐसे लेख और प्रबंध प्रस्तुत करने की ओर सभी बढ़ रहे थे जिनमें वस्तुपरक विवेचना, परिचय और ऊहापोह रहता था न कि विषय की आत्मीयतापूर्ण अभिव्यक्ति। अर्थात् निबंध के गुणधर्म इन रचनाओं में अधिक स्थान नहीं पाते थे। हाँ, नए-नए विविध क्षेत्रीय विषयों की जानकारी अवश्य वृद्धि पाती रही। थोड़े में कह सकते हैं कि शुद्ध साहित्य की सीमा एक ओर परिमित होती जा रही थी पर दूसरी ओर जीवन और जगत् का सामान्य विषय बोध व्यापक होता जा रहा था।

पं० गोविन्दनारायण मिश्र (१८५६–१६२३) भारतेन्दु कालीन लेखकों में थे। आरम्भ में वे 'सारसुधा' नामक पत्र में फुटकल लेख लिखा करते थे। उस समय उनमें न तो वैयक्तिकता उत्पन्न हो सकी थी और न उनकी साहित्यिक कृतियों में उनका संग्रह ही हो सका था। सच पूछा जाय तो उनका साहित्यिक रूप स्फुटित हुआ आकर द्वितीय उत्थान में। उनके वे लेख जिनके माध्यम से उनकी कीर्ति स्थायी हो गई इसी उत्थान के भीतर लिखे गए थे और 'श्री गोविन्द निबंधावली' नाम से संकलित हैं—(१) कवि और चित्रकार (२) प्राकृत विचार (३) सारस्वत सर्वस्व (४) विभक्ति-विचार (५) द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का भाषण (६) आत्माराम की टें टें। इनमें उनकी व्यक्तिगत भाषाशैली की सभी विशेषताएँ पूर्ण रूप से उद्घाटित हैं, विशेषतः प्रथम एवं पंचम कृति में। उनकी गद्य शैली में न तो विचार-गुंफन का अधिक सौन्दर्य दिखाई

पड़ता है न भाषा शक्ति के प्रसार की क्षमता मिलती है। हाँ, लम्बे-लम्बे वाक्यों में समासांत पदावली की काव्यात्मकता अत्यधिक दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार की भाषा बाण और दण्डी का स्मरण भले ही दिला दे सामान्य साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में आकर सर्वथा अव्यावहारिक सिद्ध होगी और भाव अथवा विचार को पाठक के हृदय तक पहुँचाने में वह समर्थ नहीं हो सकती। 'मिश्र जी के गद्य को समास-अनुप्रास में गुँथे शब्द-गुच्छ का एक अटाला समझिए।' संस्कृतनिष्ठ और व्रजभाषा-बहुल प्रयोगों का चमत्कारपूर्ण सम्मिश्रण उनमें सर्वत्र भरा रहता था। कहीं 'प्रगल्भप्रतिभा-स्रोत से समुत्पन्न शब्द-कल्पना-कलित अभिनव भाव माधुरी' मिलती है तो कहीं 'तम-तोम सटकाती मुस्काती पूरनचन्द की सकल-मन भाई छिटकी जुन्हाई' दिखाई पड़ती है। इस प्रकार के गड़-बड़ मेल के अतिरिक्त उपसर्गों का असंतुलित और निरर्थक प्रयोग तथा घोर तत्समता के बीच 'कारिख', 'अचरज' और 'परतच्छ' ऐसे शब्दों के योग से शैली की अस्थिरता ही प्रकट होती है। थोड़े में कहा जा सकता है कि यह भाषा अलंकार के अतिशय प्रयोग से और उपसर्गों तथा समासों की बहुलता से काव्यात्मक भले ही हो गई हो पर उसका जो साधारण धर्म है—भाव या विचार की बोधगम्यता—वह सर्वथा नष्ट हो गई थी। एक वाक्य का सौन्दर्य इस प्रकार है—

"जिस सुजन समाजमें सहस्रोंका समागम बन जाता जहाँ पठित, कोविद, कूर, सुरसिक, अरसिक सब श्रेणीके मनुष्य मात्रका समावेश है, वहाँ जिस समय सुकवि सुपंडितों के मस्तिष्क सुमेरुके सोतेके अदृश्य प्रवाहसम प्रगल्भप्रतिभास्रोत से समुत्पन्नशब्दकल्पनाकलित अभिनव-भावमाधुरीभरी छलकती अतिमधुररसीलीस्रोतस्वती उस हंसवाहिनी हिन्दी सरस्वतीकी कविकी सुवर्णविन्याससमुत्सुकसरसरसनारूपी सुचमत्कारी उत्ससे कलरवकलकलित अति सुललित प्रबलप्रवाहसा उमड़ा चला आता, मर्मज्ञ रसिकों के श्रवणपुटरंध्रको राह, मनतक पहुँचे सुधासे सरसअनुपम काव्यरस चखाता है, उस समय उपस्थित श्रोतामात्र यद्यपि छन्दवन्दसे

स्वच्छन्द समुच्चारित शब्दलहरीप्रवाहपुंजका समभावसे श्रवण करते हैं, परन्तु उसका चमत्कार आनन्दरसास्वादन सबको समतुल्य नहीं होता।"—द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भाषण से।

बा० बालमुकुन्द गुप्त (१८६३–१९०७) हिन्दी और उर्दू अखबारों के मँजे हुए सम्पादकों या अखबारनवीसों में थे। किसी भी मजमून को बाँधना या ठीक उतार-चढ़ाव के साथ उपस्थित करना वे भली भाँति जानते थे। शुद्ध साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में भले ही उनका विशेष महत्त्व न स्वीकार किया जाय पर भाषा शैली के प्रौढ़ प्रतिनिधि के रूप में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। आरम्भ से ही उनका साबिका अखबारों से पड़ा और बहुत दिनों तक इस सम्पादकी दुनियाँ में विचरण करते रहे इसलिए उनके लिखने में सफाई और जोर दोनों हैं। १८८६ में 'अखबारे चुनार' के सम्पादक नियुक्त हुए थे और बड़ी सफलता से उन्होंने यह कार्य किया। वहीं से लाहौर से निकलने वाले 'कोहेनूर' में सम्पादक होकर चले गए थे। उसके बाद क्रम से 'हिन्दी बंगवासी' और 'भारतमित्र' के सम्पादक नियुक्त हुए। इस सम्पादक कर्म का प्रभाव उनकी भाषाशैली पर यह पड़ा कि उसमें व्यावहारिक गतिशीलता और स्निग्धता निखर आई। छोटे-छोटे वाक्यों में उन्होंने संस्कृत और उर्दू के चलते शब्दों की अजब मैत्री बैठाई। उसके साथ मुहावरों का प्रसंगोचित जड़ाव और भी सुन्दर मालूम पड़ता था। वाक्य-विन्यास के जोड़-तोड़ के साथ स्थान-स्थान पर एक बात को दुहरा देने से उनके वाक्यों में एक विशेष बल पैदा हो जाता था, जैसे—"जिधर वह हुआ उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ पराजय हुई।" उनके लिखे थोड़े से आलोचनात्मक लेखों की भाषा में एक विशेष प्रकार का तीखापन, और उसके साथ व्यंग्य-विनोद का संमिश्रण मिलता है। उनकी जो ग्रंथावली प्रकाशित हुई है उसमें छोटे-छोटे सग्रह जीवनवृत्त, राष्ट्रभाषा और लिपि से संबद्ध नौ लेख, युग धर्म के विषय में व्यंग्य-आक्षेपपूर्ण शिवशम्भु के चौदह चिट्ठे और खत हैं। इनके अतिरिक्त उनका लिखा उर्दू और हिन्दी अखबारों का इतिहास

भी था। उनकी भाषा का वैभव और कथन की वक्र भंगिमा का पूरा आनन्द उनकी लिखी आलोचनाओं में आता था। उन आलोचनात्मक लेखों की उस युग में बड़ी चर्चा थी और उनके आलोचक रूप का बड़ा आतंक था। उनके ऐसे लेखों की सूची से ही कुछ अन्दाज लग सकता है—व्याकरण विचार, भाषा की अनस्थिरता (लेखमाला १–१०) आत्मारामीय टिप्पण (१–२) हिन्दी में आलोचना (लेखमाला १–७), अश्रुमती नाटक, तुलसी सुधाकर, प्रवासी की आलोचना, बंगला साहित्य, तारा उपन्यास, अधखिला फूल, गुलशने हिन्द। उस समय तक हिन्दी आलोचना की जितनी शुद्धि हो सकी थी उसके विचार से गुप्त जी की ये आलोचनाएँ बहुत सफल थीं—स्वस्थ दृष्टिकोण के विचार से भी और पक्ष प्रतिपादन की दृष्टि से भी। उस समय जो हिन्दी-उर्दू का युद्ध छिड़ा था उसमें हिन्दी पक्ष के समर्थन रूप में उनके लिखे जो लेख हैं उनमें विषय के उपस्थित करने की क्षमता देखी जा सकती है। उनकी भाषा का छोटा-सा उदाहरण देखिए—

"आप को उचित था कि आत्माराम को शत्रु न मानते, पर यदि वह वास्तव में आपका शत्रु है, तो आप भी क्या उसके शत्रु ही हैं? क्या शत्रु की आलोचना का कोई युक्तियुक्त उत्तर नहीं हो सकता? शत्रु को केवल शत्रु कह कर उसकी युक्तियों की उपेक्षा करना तो आलोचकों का धर्म नहीं है। मजा तो जबही है कि शत्रु अपनी कटूक्ति का भी ऐसा उत्तर सुने कि दाँत खट्टे कर के भागे। यदि आपका शत्रु किसी और की काया में घुसकर आप पर हमला करता है, तो करे। समझ लीजिए कि वह अपने चोले को कमजोर समझता है। इसमें आपके घबराने की क्या बात है? इसके लिए हर आदमी की काया में अपने शत्रु को मत देखिए। उन लोगों की पैरवी मत कीजिए, जो हरेक की आत्मा को दूसरे की काया में देखते हैं। उन्हें फिसानये अजाइब की मलिका का मेमना समझ कर जाने दीजिए।"

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (१८६५–१९४७) के

उपन्यासों और नाटकीय रचनाओं का यथास्थान उल्लेख हो चुका है। इन कृतियों के अतिरिक्त उनकी गद्य शैली की अपनी विशेषताएँ हैं जिनका रूप उनके लेखों, कबीर वचनावली की लम्बी भूमिका, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति के पद से जो उन्होंने भाषण दिया था उसमें और उनके लिखे हिन्दी साहित्य के इतिहास में देखा जा सकता है। कविता की छाया गद्य पर जब पड़ती है तब रूपरंग कैसा हो उठता है—उसका प्रमाण उपाध्यायजी का गद्य है। पद्य की-सी लहर, शब्दचयन, भावभंगी एवं माधुर्य उनके गद्य में भी मिलता है। कभी कभी तो अति-क्लिष्ट शब्दों का भी वे व्यवहार कर देते थे। आलंकारिकता और सानुप्रासिकता की ओर भी उनकी प्रवृत्ति मिलती है। उनकी शैली में कथन-विस्तार की अधिकता अधिक मिलती है। कसावट नाम की वस्तु उनमें नहीं दिखाई पड़ती, पर प्रवाह का पूरा आनंद मिलता है और भाषा शुद्ध, परिष्कृत एवं सजीव रहती है। उनके रचना-विस्तार में 'करके' 'होवे', होता होवे' ऐसे प्रयोग भी सामने आ जाते हैं। पीछे चलकर पद्य की तरह गद्य में भी मुहावरेदानी की ओर उपाध्यायजी झुक गए थे। दोनों प्रकार की शैली के छोटे-छोटे उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

"शृंगार रस की धारा ने भी हमारा अल्प अपकार नहीं किया। उसने भी हमें कामिनी कुल शृंगार का लोलुप बनाकर समुन्नति के समुच्च शिखर से अवनति के विशाल गर्त्त में गिरा दिया, इस समय हम अपनी किंकर्तव्यविमूढ़ता, अकर्मण्यता, अकर्मपटुता को साधुता के पर्दे में छिपाने लगे—और हमारी विलासिता, इन्द्रियपरायणता, मानसिक मलिनता भक्ति के रूप में प्रकट होने लगी। इधर निराकार की निराकारिता में रत हो कर कितने सब प्रकार बेकार हो गए और उधर आराध्यदेव भगवान् वासुदेव और परम आराधनीया श्रीमती राधिका देवी की आराधना के बहाने पावन प्रेम-पथ कलंकित होने लगा। न तो लोकपावन भगवान वासुदेव, लौकिक प्रेम के प्रेमिक हैं, न तो वंदनीया वृषभानुनंदिनी

कामनामयी प्रेमिका, न तो भुवन 'अभिराम बृन्दावन धाम अवैध विलास वसुंधरा है, न कलकलवाहिनी कलिंदनंदिनी-कूल कामकेलि का स्थान। किंतु अनधिकारी हाथों में पड़कर वे वैसे ही चित्रित किए गए हैं।"

"हम आसमान में तारे तोड़ना चाहते हैं; मगर काम आँख के तारे भी नहीं देते। हम पर लगा कर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने से पाँव भी नहीं उठते। हम पालिसी पर पालिश करके उसके रंग को छिपाना चाहते हैं, पर हमारी यह पालिसी हमारे बने हुए रंग को भी बदरंग कर देती है। हम राग अलापते हैं मेलजोल का, मगर न जाने कहाँ का खटराग पेट में भरा पड़ा है। हम जाति जाति को मिलाने चलते हैं, मगर ताव अछूतों से आँख मिलाने की भी नहीं है। × × × हम चाहते हैं देश को उठाना, पर आप मुँह के बल गिर पड़ते हैं। हमें देश की दशा सुधारने की धुन है, पर आप सुधारने पर भी नहीं सुधरते। हम चाहते हैं जाति की कसर निकालना मगर हमारे जी की कसर निकाले भी नहीं निकलती। हम जाति को ऊँचे उठाना चाहते हैं, पर हमारी आँख ऊँची होती ही नहीं। हम चाहते हैं जाति को जिलाना, मगर हमें मर मिटना आता ही नहीं।"

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८७०–१९३८) का जीवन भर यही प्रयास था कि हिन्दी के सभी दोष-दौर्बल्य दूर हो जायँ। भारतेन्दु जी की तरह उनके सामने भी दो बातें उपस्थित हुईं (१) भाषा का परिष्कार—जिसके भीतर शोधन, मार्जन और विविध प्रकार की शैलियों का संगठन करना था और (२) साहित्य-सर्जना के क्षेत्र का प्रसार—जिसके अन्दर वे सब बातें आती थीं जिनके कारण हिन्दी के सम्पर्क में आनेवाली अन्य देशी-विदेशी भाषाओं में विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के सामान्य विषयों की जानकारी होती थी। भाषा परिष्कार के संबंध में तो केवल इतना ही कहना है कि भारतेन्दु युग से चली आती भाषा में व्याकरण संबंधी च्युति और दोष प्रायः दिखाई पड़ते थे। उन्होंने

कठोरतापूर्वक इसके लिए बद्धपरिकर होकर रोकटोक आरंभ की। इस विषय में उनकी निर्भीकता और व्यक्तित्वपूर्ण दोष-दर्शन का प्रभाव उस समय के लेखकों पर बड़ा अच्छा पड़ा। नवयुवक उत्साही लेखक सजग और सशंक होकर लिखने लगे और भाषा विषयक अनाचार बहुत कुछ बन्द हो गया। इसके अतिरिक्त उन्होंने विविध प्रकार की गद्य शैलियों के स्वरूप संगठन में सक्रिय योग दिया था। व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और विचारात्मक शैलियों का पृथक् पृथक् विधान उन्होंने स्वयं उपस्थित किया। इन भिन्न भिन्न रूपवाली शैलियों की वाक्य-योजना शब्द विधान और प्रवाह भी अलग अलग ढंग के होते थे। व्यंग में कड़ुवाहट के साथ यदि मसखरापन रहता था तो तथ्य या विचार के उपस्थित करते समय पर्याप्त सुस्पष्टता और प्रवाह भी देखने में आता था। मुहावरों और शब्दों को बैठाने में द्विवेदीजी विशेष पटु थे। व्यंग्य-विनोद और विवरण-विचार की दोनों शैलियों के रूप देखिए—

"इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान बूचाशाह हैं। बापदादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े लिखे आप राम का नाम ही हैं! चेयरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखा कर आप रायबहादुर बन जायँ और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मेम्बर हैं बाबू बख्शिशराय। आपके साले साहब ने फी रुपए तीन चार पसेरी का भूसा देने का ठीका लिया है। आपका पिछला बिल १० हजार रुपए का था। पर कूड़ागाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नजर नहीं आता। सफाई के इंसपेक्टर हैं लाला सतगुरुदास। आपकी इंसपेक्टरी के जमाने में, हिसाब से कम तनख्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफे हड़ताल कर चुके हैं। नजूल जमीन के एक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वसुख उसके तीन हजार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके ६

महीने बाद म्युनिसिपैलिटी के मेम्बर पं० सत्यसर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही ज़मीन एक हजार पर बेंच दी गई।"—म्युनिसिपैलिटी के कारनामें।

"इसी से किसी किसी का ख्याल था कि यह भाषा देहली के बाजार ही की बदौलत बनी है। पर वह ख्याल ठीक नहीं। भाषा पहले ही से विद्यमान थी और उसका विशुद्ध रूप अब भी मेरठ प्रांत में बोला जाता है। बात सिर्फ यह हुई कि मुसलमान जब यह बोली बोलने लगे तब उन्होंने उसमें अरबी फारसी के शब्द मिलाने शुरू कर दिए, जैसे कि आजकल संस्कृत जानने वाले हिन्दी बोलने में आवश्यकता से ज्यादा संस्कृत शब्द काम में लाते हैं। उर्दू पश्चिमी हिंदुस्तान के शहरों की बोली है। जिन मुसलमानों या हिंदुओं पर फारसी और सभ्यता की छाप पड़ गई है, वे अन्यत्र भी उर्दू ही बोलते हैं। बस, और कोई यह भाषा नहीं बोलता। इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत से फारसी-अरबी के शब्द हिन्दुस्तानी भाषा की सभी शाखाओं में आ गए हैं। अपढ़ देहातियों ही की बोली में नहीं किन्तु हिन्दी के प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखकों की परिमार्जित भाषा में अरबी-फारसी के शब्द आते हैं। पर ऐसे शब्दों को अब विदेशी भाषा के शब्द न समझना चाहिए। वे अब हिन्दुस्तानी हो गए हैं और उन्हें छोटे छोटे बच्चे और स्त्रियाँ तक बोलती हैं। उनसे घृणा करना या उन्हें निकालने की कोशिश करना वैसी ही उपहासास्पद बात है जैसे कि हिन्दी में से संस्कृत के धन, वन, हार और संसार आदि शब्दों को निकालने की कोशिश करना है। अँगरेजी में हजारों शब्द ऐसे हैं जो लैटिन से आए हैं। यदि कोई उन्हें निकाल डालने की कोशिश करे तो कैसे कामयाब हो सकता है।"

भाषा-सुधार संबंधी और कविता के क्षेत्र में किए गए प्रयासों के अतिरिक्त द्विवेदी जी के केवल गद्य-रचना वैभव का यदि आकलन और स्मरण किया जाय तो सामान्यतः बुद्धि थकित हो जाती है। किस किस कोटि और कितने प्रकारों की चीज़ें उन्होंने प्रस्तुत की थीं इसका पूरा

ब्यौरा डा० उदयभानु सिंह ने अपने ग्रंथ 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' में देने का प्रयास किया है पर यदि इस मेधावी रचनाकार की कृतियों का थोड़े में परिचय देना अभीष्ट हो तो कहा जा सकता है कि उनकी रचनाएँ बहुक्षेत्रीय और बहुमुखी हैं; साथ ही नितांत सामान्य कोटि की भी हैं और गंभीर से गंभीर विषयों पर भी हैं। उनके किए हुए अनेक अनुवाद ग्रंथ भी हैं। अनुवाद संस्कृत ग्रन्थों के भी हैं और अंगरेजी के भी। उनमें मुख्य ये हैं—भामिनी विलास (पंडितराज जगन्नाथ), मेघदूत, रघुवंश, कुमारसंभव (कालिदास), वेणीसंहार (भट्ट नारायण) किरातार्जुनीय (भारवि), स्वाधीनता (जान स्टुअर्ट मिल की रचना 'आन लिबर्टी'), शिक्षा (हर्बर्ट स्पेंसर लिखित एज्यूकेशन), बेकन-विचार-रत्नावली (बेकन के निबंधों का अनुवाद)। मौलिक ग्रंथों में कुछ तो समीक्षा शास्त्र से संबंध रखती हैं, जैसे—नाट्यशास्त्र, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति आदि और कुछ व्यावहारिक समीक्षाएँ, जैसे—हिन्दी कालिदास की समालोचना, विक्रमांकदेवचरितचर्चा, नैषधचरितचर्चा। उनके लिखे छोटे-बड़े निबंधों और लेखों के अनेक संग्रह निकल चुके हैं जो भिन्न अभिप्रायों को ले कर संकलित हुए हैं; उनमें मुख्य ये हैं—रसज्ञरंजन, संकलन, लेखांजलि, संचयन। 'सरस्वती' में समय-समय पर प्रकाशित उनकी छोटी टिप्पणियों का एक भारी संग्रह 'विचार विमर्श' नाम से प्रकाशित हो चुका है। कुछ रचनाएँ तो ऐसी भी हैं जो अभी तक छापे के प्रकाश में आई नहीं; जैसे—वरुणोपदेश, कौटिल्य-कुठार आदि।

पं० माधवप्रसाद मिश्र (१८७१–१९०७) के व्यक्तित्व और भाषा सौन्दर्य की स्तुति हिन्दी के सभी श्रेष्ठ लेखकों ने की है। पं० गोविन्द-नारायण मिश्र और बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने उनकी तेजस्विता और निर्भीकता का उल्लेख किया है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का कथन उनके विषय में सर्वसम्मति का निर्देशक है—"मिश्र जी के लेखों में भावों की भरमार रहती है। वैसी भाषा लिखने वाला लेखक कोई ही हो तो हो। भाषा में लम्बे वाक्य लिख कर काव्यमय बनाने वाले

और भी लेखक—हो गए हैं और हैं। किन्तु मिश्रजी में यह विशेषता थी कि छोटे छोटे वाक्य लिख कर भी और उनमें भावों का पुट दे कर उनको रसमय बना देते थे।" इस प्रकार उनके विषय प्रतिपादन की पद्धति बड़ी जोरदार और भाषा सजीव, प्रांजल और प्रवाहमय होती थी। उनकी भाषा शैली के विविध गुण ही यथेष्ट हैं उन्हें ऊँचा साहित्यिक आसन दिलाने में। 'वैश्योपकारक' और काशी से निकलने वाले 'सुदर्शन' पत्रों के सम्पादक रह चुके थे और पर्व-त्योहारों, राजनीतिक विषयों और हलके-गंभीर सभी प्रकार की रचनाएँ करने में समान रूप से सिद्ध थे। उनके लिखे दर्जनों जीवनचरित्र हैं; जिनमें 'विशुद्ध चरितावली' तो प्रायः पूरा एक ग्रंथ ही है। उनके लिखे जो साहित्यिक लेख और निबंध हैं वे सुसंबद्ध, विचार और भाव के उद्दीपक, और निहायत साफ हैं। उनके 'बेवर का भ्रम', 'श्रीपंचमी,' 'रामलीला,' 'सब मिट्टी हो गया' आदि अति प्रसिद्ध निबंध हैं जिनमें कृतिकार के सम्पूर्ण भीतर-बाहर रूप का अच्छा प्रतिनिधित्व दिखाई पड़ता है। यात्राओं, धर्म-चर्चा या आन्दोलन पर उन्होंने पर्याप्त रूप से लिखा है। परीक्षा, धृति, क्षमा ऐसे विषयों पर उनके विचारपूर्ण लेख हैं। जहाँ तक विषय क्षेत्र का प्रश्न है उन्होंने व्यापक और उदार हो कर विषय का संचयन किया है। विषय-विस्तार जिस प्रकार का भी व्यापक हो भाषा उनकी एक-सी सर्वत्र रहती थी। उसमें निराला अपनापन भरा रहता था। उनकी जितनी आलोचनात्मक विषय-विवेचना होती थी उसमें भी तर्क, आवेश और भावुकता का पूरा रूप निखरा मिलता था। उनके भीतर देशदशा की तीव्र अनुभूति भरी थी। उनकी रचना के विस्तार में इसके पोषक अनेक प्रमाण दिखाई पड़ते थे।

मिश्र जी की भाषा का चमत्कार इतना आकर्षक था कि वही उनकी सम्पूर्ण कृति पर छा उठा है। शैली का यह भव्य रूप अपने समय में एक संयोग ही कहा जायगा। स्थान-स्थान पर अपने प्रतिपाद्य पक्ष की आरंभिक स्थापना वे बड़ी गंभीरता और बल के साथ करते थे साथ ही

उनके वाक्य-समूह आपस में गुँथे से रहते थे। उनकी शैली में प्रधान चमत्कार नाटकत्व या वक्तृत्व का था। श्रोता या पाठक किसी विषय को सुन कर अधिक प्रभावित हो केवल इस विचार से एक ही बात को, इधर उधर से, कई प्रकार से, कई वाक्यों में कहा जाता है—"रामनाम ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शांतिप्रद है और रामनाम ही हमारे अंधे घर का दीपक है।" "यही डूबते हुए भारतवर्ष का सहारा है और यही अंधे भारत के हाथ की लकड़ी है।" इत्यादि वाक्यांशों में वक्तृतामय आवेश स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शब्दचयन के आधार पर कहा जा सकता है कि मिश्रजी का झुकाव संस्कृत की तत्समता की ओर था। इनकी भाषा अन्तःकरण की भावात्मक स्थिति का प्रकाशन करती चलती थी। जिस स्थान पर इनके हृदय में करुणा जागरित रहती थी वहाँ इसकी पूर्ण व्यंजना करने के लिए भाषा में भी उसी प्रकार की ढरन पैदा हो जाती थी और जब क्रोध का आवेश भर कर लिखते थे तब भाषा में भी उग्रता खिल उठती थी—"निरंकुशता और धृष्टता आजकल ऐसी बढ़ी है कि निर्गलता से ऐसी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस भ्रांत मत का प्रचार करने वाले यदि बेवर साहब यहाँ होते तो हम उन्हें दिखाते कि जिसका वे अपनी विषदग्धा लेखनी से जर्मनी में वध कर रहे हैं वह भारतवर्ष में व्यापक और अमर हो रहा है।" उनके आलोचनात्मक उद्वेग का रूप वहाँ देखा जा सकता है जहाँ उन्होंने पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और पं० श्रीधर पाठक पर व्यंग्य-आक्षेप किए हैं। अपने 'काव्यालोचन' लेख में पाठक जी की कविता (जिसकी प्रशंसा द्विवेदी जी ने कर दी थी) 'गुनवंत हेमंत' की कैसी कड़ुवाहट भरी भर्त्सना की है। उसमें उनकी प्रगतिवादी वृत्ति का भी संकेत मिल जाता है।

"यदि हम पंडित महावीरप्रसाद जी के समान समीचीन समालोचक और कवि होते तो इस 'गुनवंत हेमंत' को देख कर अवश्य ही एक 'श्रीधर सप्तक' वा 'श्रीधराष्टक' स्तोत्र बना डालते। और उसमें वर्णन करते—'प्रभो! कवींद्र चूड़ामणे! आपकी महिमा अपरम्पार है। हेमंत का वर्णन

तो बड़े-बड़े कालिदासादि महाकवियों ने भी किया था, पर एक क्षुद्र पद्य में उसका कुछ अल्प ही वर्णन कर उसे 'गुनवंत' बना देना—यह किसकी सामर्थ्य थी ? दिव्य लोचन प्राचीन अंध कवि लोग जिस समय जैसा देखते हैं, वैसा ही वर्णन करते हैं, परन्तु धन्य है आपको, जिस समय भारतवर्ष में 'शुष्क' के अतिरिक्त सरस हरित पत्र भी नहीं दिखलाई देता था आपको उस समय भी दिव्य दृष्टि से सब हरे भरे खेत दिखाई दिए। यहीं तक नहीं, श्रीमान की दिव्य दृष्टि ने और भी कमाल किया है। सड़कों पर और बाजारों में फिरते हुए दुर्भिक्षदलित पुरुष तो दृष्टिगोचर नहीं हुए पर अन्तरंग रहस्यमय 'सुरतिसुख' को देखने में दुर्बीन को भी मात कर गए। सुना था कि बड़े आदमियों को साधारण लोग दिखाई नहीं दिया करते, परन्तु आपने उसे प्रत्यक्ष दिखा अपने 'श्रीधर' नाम को सार्थक कर दिया। धन्य ! विचित्र कवि धन्य !"

बाबू श्यामसुन्दर दास (१८७५–१९४५) सच्चे उत्साह, विश्वास, कर्मठता की प्रतिमूर्त्ति और विशिष्ट व्यक्तित्व के युगनिर्माता कृतिकार थे। अपने जीवन के पचास वर्षों में इन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य का ऐसा संवर्धन और निर्माण किया-कराया कि उसे ऊँची से ऊँची शिक्षा के योग्य बना दिया। बी० ए०, एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० फिल् और डी० लिट्० आदि के उच्च स्तर पर अन्य विषयों के समकक्ष हिन्दी के भी गौरव को बढ़ाने का समस्त श्रेय डाक्टर दास को था। भाषा को राजकीय क्षेत्र में गौरव दिलाने तथा बृहत् व्याकरण और कोश प्रस्तुत कराने में भी उनका अतुल योग था। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के माध्यम से होने वाले समस्त साहित्यिक अनुष्ठान उनकी तपस्या के फल हैं। प्रयाग की 'सरस्वती' पत्रिका और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ऐसी संस्थाओं के निर्माण में उन्हीं की साधना दिखाई पड़ती है। बाबूसाहब हिन्दी-हित की जीती जागती प्रतिमा थे। उनकी साहित्यिक देन के रूप में बहुत से सम्पादित और संकलित ग्रंथ प्रकाशित हुए थे। पाठ्यक्रम में आने वाली अनेक पुस्तकें उन्होंने बनाई थीं। प्राचीन ग्रंथों की खोज की

व्यवस्था में और उनके विवरण प्रस्तुत करने में उन्होंने बड़ी तत्परता दिखाई थी। उनकी मौलिक कृतियों में समीक्षा सिद्धांत और व्यवहार से संबंध रखने वाले ऊँचे स्तर के कई ग्रंथ हैं; जिनमें प्रमुख ये हैं—हिन्दी कोविद रत्नमाला दो भाग, साहित्यालोचन, भाषा विज्ञान, हिन्दी भाषा का विकास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, हिन्दी भाषा और साहित्य, गोस्वामी तुलसीदास, रूपक रहस्य, भाषा रहस्य, मेरी आत्मकहानी।

यों तो बाबू साहब इस उत्थान के बहुत पूर्व से ही लिखने लगे थे और इसके उपरांत तक लिखते गए थे पर उनके साहित्यिक जीवन का पूर्ण आभोग काल यही उत्थान था। 'संतोष' 'भारतवर्षीय आर्यभाषाओं का प्रादेशिक विभाग और परस्पर संबंध', 'नागर जाति' और 'नागरी लिपि' आदि उनके निबंध और लेख १८९४ में ही प्रकाशित हुए थे। इसके उपरांत तो फिर 'सरस्वती' के जन्म से ले कर अन्तिम समय तक बराबर उनकी रचनाएँ सामने आती गई थीं। अपने समय के उत्तम भाषण देने वालों में बाबू साहब की बड़ी कीर्ति थी; यहाँ तक कि उनके भाषणों की प्रांजलता और उसमें परिव्याप्त आवेश उनकी गद्य शैली में जम कर बैठा दिखाई देता है। उनके प्रमुख और ऐतिहासिक महत्त्व के चार भाषण तो छपे हुए प्राप्त हैं—हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन अलीगढ़, ओरियंटल कानफरेंस पटना और बनारस। उनके व्यक्तित्व की गर्वानुभूति और तेजस्विता उनके भाषणों में भरी रहती थी और संस्कृतनिष्ठ पदावली तथा प्रवाह का पूरा संयोग मिला रहता था। एक बात में उनका कृतित्व और दिखाई पड़ता था। अध्ययन-अध्यापन के उच्चतम स्तर पर उठा कर हिन्दी साहित्य को मूलतः विचारपरक बनाने में भाषा का जो नूतन संस्कार उन्हें करना पड़ा था उसकी पूर्ण विवृति आधुनिक आलोचना साहित्य में दिखाई पड़ती है। एक छोटे से उद्धरण में इन विशेषताओं को देखा जा सकता है—

"साहित्य का मानव जीवन से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। साहित्य में

किसी जाति के जीवन का स्पष्ट चित्र देख पड़ता है। साहित्य उसके अभ्युत्थान और पतन, उसकी सांसारिक चेष्टाएँ, उसकी स्वतंत्रता, उसकी दासता, उसकी उच्छृंखलता, उसके विचारों या भावों की होड़ तथा उसके सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन का साक्षात् स्वच्छ प्रतिबिंब है। साहित्य की बात तो दूर रही, उसकी भाषा के एक-एक शब्द में उसका इतिहास भरा पड़ा है। अतएव मानव जीवन और साहित्य-जीवन में अन्योन्याश्रय संबंध है। एक के बिना दूसरे का विवेचन ठीक-ठीक नहीं हो सकता। इस विचार से साहित्य निर्मायक और निर्मित दोनों है। जहाँ एक ओर वह अपने प्रभाव से परिस्थिति के परिवर्तन करने में समर्थ होता है, वहाँ वह प्रायः वर्तमान परिस्थिति में पड़कर स्वयं उसके साँचे में ढल जाता है। साहित्य के अधिकांश भाग को निर्मित होने का ही गौरव प्राप्त होता है। निर्मायक होने का सौभाग्य तो 'क्वचित्' की श्रेणी में गिनने योग्य है। इस अवस्था में किसी जाति के साहित्यिक विकास के तथ्य को समझने के लिए यही आवश्यक नहीं है कि उसकी परंपरागत स्थितियों का विवरण जान लिया जाय, वरन् यह भी आवश्यक है कि उसके जीवन के भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक स्थितियों का भी विवेचन किया जाय, जिसमें दोनों की तुलना करके तत्त्व की बात समझ में आ सके।"

इस उत्थान के भीतर अपनी-अपनी भाषा शैली की व्यक्ति-विधायिनी वृत्तियों का पुष्ट रूप उपस्थित करनेवाले कृतिकारों में पं० पद्मसिंह शर्मा (१८७६-१९३२) सरदार पूर्णसिंह (१८८१-१९३१) और पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (१८८३-१९२२) प्रमुख थे। आलोचना के क्षेत्र में स्थायी कार्य करनेवाले शर्मा जी की भाषा में चटपटापन, उछल कूद और लपक-झपक बहुत थी। मजलिसी ठाठ का वल्लाह-वल्लाह, क्या खूब क्या खूब का उत्साहवर्धक रूप उनकी आलोचनाओं की एक विभूति है जो केवल उन्हीं की कृतियों तक परिमित रह गई। आलोचना क्षेत्र के बाहर उनकी लिखी जो छोटी-छोटी जीवनियाँ थीं अथवा

समय-समय पर निकलनेवाले लेख और निबंध थे उनकी भाषा में उनका यथार्थ रूप झाँकता मिलता था। विनोदशील वक्रता, चुटीले आक्षेप और भावात्मक ढंग की कथन-प्रणाली के कारण ये निबंध और जीवन-वृत्त विशेष आकर्षक हो जाते थे। इस प्रकार की उनकी रचनाओं का संग्रह 'पद्मपराग' नाम से प्रकाशित है। अपने उस संग्रह की जो जीवनी उन्होंने स्वयं लिखी है उनकी सजीव भाषा का उत्तम रूप उसी में दिखाई पड़ जाता है।

सरदार पूर्णसिंह ने हिन्दी में अधिक लिखा नहीं था; उनके लिखे पाँच निबंधों का उल्लेख लोगों ने किया है—पवित्रता, आचरण की सभ्यता, मजदूरी और प्रेम, कन्यादान तथा सच्ची वीरता। इनमें से प्रथम दोनों एक शैली के हैं और दूसरे तीनों एक वर्ग के। प्रथम वर्ग में भावात्मक आवेश, विरोधाभास और लाक्षणिकता का अधिक प्रयोग है। दूसरे वर्ग में कुछ वृत्ति विचारपूर्ण भी दिखाई पड़ती है। अमूर्त को मूर्त रूप में बारंबार उपस्थित करके कथन में चमत्कार-सृजन की आकांक्षा सर्वत्र मिलती है।

पं० चन्द्रधर शर्मा की भाषा में ओज, विदग्धता और प्रवाह का वेग सर्वत्र रहता था। किसी विषय को सीधे-सादे ढंग से उपस्थित करके, छोटे-छोटे स्पष्ट वाक्यों की आकर्षक मालिका गूँथ कर, उसमें मुहावरों का उपयुक्त और अवसर के अनुरूप व्यवहार करके वे अपनी शैली में जान डाल देते थे। एक ओर—नुक़ैल, सितम, कारवाँ, गुल आदि उर्दू के तो दूसरी ओर अंगरेजी के चलते और बेचलते (assumed, provisional, presentiment, telepathy) आदि शब्द भी वे बेधड़क प्रयोग करते थे। इससे हिन्दी के सामान्य पाठक गड़बड़ में पड़ जाते थे। इसके अतिरिक्त उनमें संस्कृत का संस्कार और प्रादेशिकता का प्रभाव भी वर्तमान था; करैं, रहैं, चाहैं, कहेंगे, निल्हाया, वेर, खैंच आदि पण्डिताऊ प्रयोग भी उनकी भाषा में बराबर मिलते थे। इसके अतिरिक्त "वे सब ठीक एकाकार दीखते हुए स्वरूप में अति सुंदर होकर

निकले।"—ऐसे वाक्य भी लिखा करते थे। विषय के विचार से और विषय के प्रतिपादन के विचार से गुलेरी जी का क्षेत्र बड़ा व्यापक था। उन्होंने विविध प्रकार के लेख, निबंध, कहानी आदि की रचना की थी। व्यंग्य, आक्षेप से भरी कुछ आलोचनाएँ भी लिखी थीं। इनका अध्ययन और अनेक विषयों में अन्तःप्रवेश इतना गंभीर था कि लिखते समय स्वभावतः विविध प्रकार के प्रसंगों का उल्लेख कर जाते थे जिससे सामान्य पाठक उनकी उक्तियों का पूरा रस नहीं ले पाते थे। उनके इस प्रकार के प्रसंगगर्भत्व की बहार किसी भी रचना में देखी जा सकती है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल (१८८४-१९४१) हिन्दी के युग-निर्माता लेखक थे। उनकी गद्य-शैली, आलोचना-पद्धति और निबंध-रचना की सर्वमान्य स्वीकृति हिन्दी जगत् में पूर्णतया प्रतिष्ठित है। अपने समय तक की भाषा विषयक समस्त समृद्धि को बटोरकर शुक्लजी ने अपनी शैली का निर्माण किया था। वह शास्त्रीय पदावली से भरी-पुरी, इष्ट विचार या भाव को पूर्णतया अभिव्यक्त करने में समर्थ, संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी चलते उर्दू-फारसी, अंगरेजी और देशज शब्दों का योगबल लिए, आवश्यकतानुसार मुहावरों से संयुक्त, होती थी। विषय-निवेदन के गांभीर्य से आपूर्ण रहने पर भी यदाकदा परिहास-व्यंग्य के द्वारा उसमें से लेखक का व्यक्तित्व झाँकता मिलता था। इतिवृत्तात्मक, व्याख्यात्मक, भावात्मक, व्यंग्यात्मक और विचारात्मक—सभी प्रकार की शैलियों में शुक्ल जी ने लिखा था और सभी पर उनकी छाप मिलती थी। प्रसंग एवं विषय के अनुरूप भाषा को ढाल देने की अद्भुत क्षमता थी उनमें। उनके व्यंग्य और आक्षेप भाषा का बल पाकर जैसे खिल उठते थे। भाषा शैली की इतनी उत्तम प्रगति और अधिकार किसी लेखक में नहीं मिला था।

"कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष होते हैं—विभाव पक्ष और भाव पक्ष। कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में

कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को और जगाने में समर्थ होती है और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। एक विभाग पक्ष है दूसरा भाव पक्ष। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, अतः दोनों रहते हैं, जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है। जैसे, नायिका के रूप या नखशिख का कोरा वर्णन लें तो उसमें भी आश्रय का रतिभाव अव्यक्त रूप में वर्तमान रहता है। भावपक्ष में सूर की पहुँच का उल्लेख ऊपर हो चुका है। सूरदासजी ने शृंगार और वात्सल्य ये ही दो रस लिए हैं। अतः विभाव पक्ष में भी उनका वर्णन उन्हीं वस्तुओं तक परिमित है जो उक्त दोनों रसों के आलंबन या उद्दीपन के रूप में आ सकती हैं। जैसे—राधा और कृष्ण के नाना रूप, वेश और चेष्टाएँ तथा करील कुंज, उपवन, यमुना, पवन, चन्द्र, ऋतु इत्यादि।"

शुक्ल जी ने अनुवाद का कार्य भी किया है, जैसे—शशांक, विश्व-प्रपंच आदि, पर उनका मुख्य क्षेत्र निबंध और आलोचना है। उनका हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रकारांतर से समीक्षा-ग्रंथ ही है। इसके अतिरिक्त सूर, तुलसी और जायसी पर उनकी विस्तृत आलोचनाएँ विख्यात हैं ही। इनके अतिरिक्त 'चिंतामणि' द्वितीय भाग में संगृहीत तीन समीक्षा परक बड़े प्रबंध हैं—काव्य में प्राकृतिक दृश्य, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद। चिंतामणि प्रथम भाग में उनके मनोविकारों पर लिखे शुद्ध विचारप्रधान निबंध हैं, जैसे—उत्साह, घृणा, श्रद्धा-भक्ति, लोभ और प्रीति, लज्जा और ग्लानि, ईर्ष्या, भय, क्रोध, करुणा आदि। इन निबंधों में जहाँ एक ओर विषय-वस्तु की विचारात्मक विवेचना है या परिचय दिया गया है वहीं दूसरी ओर आत्माभिव्यंजकता भी जलतरंगवत् उसमें अनुस्यूत मिलती है। इन मनोविकारों के अतिरिक्त इस भाग में व्यावहारिक समीक्षा से संबद्ध कुछ विशिष्ट निबंध भी हैं, जैसे—साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद,

काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था, कविता क्या है आदि।

इस उत्थान के भीतर आने वाले अन्य विशिष्ट निबंध लेखकों में बाबू गुलाबराय, श्री पदुमलाल पुन्नालाल जी बख्शी, माखनलाल चतुर्वेदी आदि हैं। गुलाबराय जी के मनोविज्ञान, दर्शन, शिक्षा आदि से संबंध रखने वाले विविध लेख हैं, जिनमें धारावाहिकता और चिंतन पक्ष की निर्मलता सर्वत्र मिलती है। 'मेरी असफलताएँ', 'फिर निराशा क्यों' आदि संग्रहों में उनके आत्मपरक निबंधों के प्रांजल रूप देखने में आए हैं। समीक्षा सिद्धान्त संबंधी उनकी कई रचनाएँ हैं। समाजशास्त्र विषयक कृतियाँ भी आपने कई प्रस्तुत की हैं। गुलाबराय जी अपने ढंग के पक्के साहित्य-सेवी और सिद्ध समालोचक हैं। उनकी विवेचना-पद्धति साफ और भाषा विषयबोधन में परिपक्व है। बख्शी जी हिन्दी के प्रतिष्ठित सम्पादक, समालोचक और निबंध-लेखक हैं। पहले 'सरस्वती' का संपादन कुछ वर्षों तक किया था और इधर पुनः उसी में लगे थे। आरम्भ में आलोचना की उनकी जो पुस्तकें निकली थीं उनमें प्रमुख ये हैं—विश्व साहित्य, हिन्दी साहित्य विमर्श, हिन्दी कहानी साहित्य, हिन्दी उपन्यास साहित्य। 'त्रिवेणी' और पंचपात्र में उनके निबंध आख्यायिका आदि संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त उनके आत्माभिव्यंजक, श्रेष्ठ निबंधों के कई संग्रह इधर प्रकाशित हुए हैं; जिनमें प्रमुख इस प्रकार हैं—'कुछ', 'और कुछ'। 'यात्री' में बख्शी जी के आत्म जीवन चरित्र का भावात्मक निवेदन है। पं० माखनलाल जी का गद्य भी काव्य की सरस अनुभूतियों से आपूर्ण रहता है। कहीं कहीं उनमें प्रतीक भावना और लाक्षणिकता बहुत उभड़ उठती है। उनके विशिष्ट निबंधों में—साहित्य देवता, युग और कला, रंगों की बोली, व्यक्तित्व आदि अति प्रशंसित रचनाओं में है। उनकी भाषा में अलंकरण होते हुए भी धारावाहिकता दिखाई पड़ती है। भीतर का आवेश बाहर आ कर काव्य के अवगुण्ठन के कारण दमित-सा मालूम पड़ता है।

आलोचना

आलोचना की जो परंपरा भारतेन्दु युग से चली आ रही थी उसका बहुमुखी विकास क्रम से इस उत्थान के भीतर आकर हुआ। इस युग के आलोचकों में सर्वोपरि पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। वे अपनी 'सरस्वती' में समय-समय हर विभिन्न लेखकों की अनेक विषयों पर लिखी कृतियों पर टिप्पणियाँ और सम्मतियाँ लिखा करते थे। उस समय की आलोचना में, नियन्त्रण, भाव, मूल्याङ्कन एवं क्रूर व्यंग्यात्मकता का अधिक योग दिखाई पड़ता था। सर्जना की बाढ़ को शास्त्र-सम्मत बनाना, उत्तम मध्यम कोटियों का निर्धारण करना और कविकर्म के विविध पक्षों के सौन्दर्य का उद्घाटन करना इस उत्थान में क्रम से आता गया। इसी क्रम में चल कर द्विवेदीजी ने विक्रमांकदेवचरित-चर्चा शीर्षक लेख में कविकृति का विस्तृत परिचय उपस्थित किया था। परिचय और सामान्य-सी व्याख्या इसकी विशेषताएँ थीं। 'नैषधचरित' की विवेचना में भी कवि के आन्तरिक सौन्दर्य के निरूपण की ओर वे बढ़े नहीं। इसी तरह 'कालिदास की निरंकुशता' में द्विवेदीजी की दृष्टि मूलतः दोषदर्शन में ही उलझी रह गई थी। सच तो यह है कि उस समय के इन विद्वानों में छेड़छाड़ और वादविवाद की प्रवृत्ति अधिक स्फुटित थी। विभक्ति को पृथक् रखा जाय कि शब्द से मिलाकर लिखें, 'अनस्थिरता' शब्द शुद्ध है अथवा अशुद्ध इन्हीं बातों को लेकर भारी संग्राम उपस्थित कर देना उस समय की आलोचना का खास तर्ज था। पर इतना अवश्य हुआ कि द्विवेदीजी ने आलोचना को उद्बुद्ध रखा और शास्त्रसम्मत छान-बीन को जगाते रहे। इससे आगे बढ़ने की भूमि निकलती गई और रचना के इस प्रकार-भेद की उपादेयता का स्वरूप गठित होने लगा था। इस समय लिखी गई बा० बालमुकुन्द की आलोचनाओं में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति लक्षित होती थी। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के उपन्यास 'अधखिला फूल' बँगला के 'अश्रुमती' नाटक और

पं० किशोरीलाल गोस्वामी के तारा उपन्यास की जो आलोचनाएँ उन्होंने 'भारत मित्र' में लिखी थीं उनमें भी दोषों को उभाड़ने की और डाँट बताने की ही प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती थी।

कवियों की रचनाओं का क्रमबद्ध अध्ययन और उनकी विशेषताओं की छानबीन की योजना लेकर सामने आने वालों में मिश्रबंधु प्रमुख थे। उन्होंने अपने 'हिन्दीनवरत्न' में नौ विशिष्ट हिन्दी कवियों की विस्तृत आलोचनाएँ लिखीं जिनमें कवियों के जीवन वृत्त और उनके कविकर्म संबंधी वैशिष्ट्य का विस्तार उपस्थित किया। इससे सूक्ष्म विवेचना की आवश्यकता लोगों के सामने आई, इसी तरह उन्होंने 'मिश्रबन्धु विनोद' नामक विशाल संग्रह ग्रंथ में हिन्दी के आदि काल से अभी तक के हजारों कवियों का संक्षिप्त विवरण-परिचय एकत्र किया। भले ही इसमें अनेक भूलें भरी थीं पर अपने ढंग का सर्वप्रथम और अनूठा संग्रह यह प्रस्तुत हुआ था। आजतक इस ग्रंथ की उपादेयता अक्षुण्ण बनी चली आ रही है। न जाने कितने अनुशीलन-प्रेमी विद्यार्थी और विद्वान इससे लाभ उठाते चले आ रहे हैं। विषय-सामग्री उपस्थित करने के अतिरिक्त अपने 'हिन्दी नवरत्न' में उन्होंने कवियों के निर्णयात्मक मूल्यांकन की जो चेष्टा की और यह संकेत किया कि देव अन्य कवियों की अपेक्षा कुछ अधिक पटु और श्रेष्ठ हैं इससे विवाद का एक पूरा अखाड़ा कायम हो गया। इस प्रश्न को लेकर जो साहित्यिक विवाद खड़ा हुआ उससे तारतम्यिक समीक्षा को बड़ा बल मिला। इसी द्वन्द्व के परिणाम स्वरूप पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी का पक्ष ग्रहण किया और 'बिहारी सतसई' में नाना विधियों से यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि बिहारी की बहुज्ञता कविकर्म की पटुता, अभिव्यंजना, चित्रविधान आदि देव से कहीं अधिक बढ़कर हैं। इसमें देव की हीनताओं का भी पर्याप्त निदर्शन किया गया; साथ ही प्राकृत, संस्कृत आदि के विभिन्न कृतिकारों से तुलना करते हुए बिहारी की उत्कृष्टता का उचित अनुचित सभी प्रकार का प्रतिपादन किया गया, इस दौड़धूप में शर्माजी बिहारी की काव्य संबंधी

आंतरिक विभूतियों और सुन्दरताओं के उद्घाटन में नहीं प्रवृत्त हो सके पर अपनी महफिली तर्ज की समीक्षा का चुलबुलापन और आकर्षक रूप ऐसा पैदा किया कि बहुत से चमत्कार-प्रेमी साहित्यिक उधर बेतरह आकृष्ट हुए और उनकी इस तारतमिक समीक्षा के इस नूतन विधान को देख कर दंग रह गए।

पं० पद्मसिंह की एकतरफा और अतिशयोक्ति से भरी आलोचना की प्रतिक्रिया के रूप में पं० कृष्णविहारी मिश्र ने उनकी बातों का खण्डन अपने 'देव और बिहारी' ग्रंथ में किया। मिश्रजी की विवेचना में परिष्कार और गाम्भीर्य अधिक दिखाई पड़ा। उनकी आलोचना अधिक शिष्ट और मार्मिक होती थी। उन्होंने अपने प्रतिपाद्य कवि देव की खूबियों का विश्लेषण करते हुए दिखाया कि अन्य कवियों की तुलना में उन्हें ऊँचा स्थान देना चाहिए। इस पुस्तक के अतिरिक्त उन्होंने मतिराम के ग्रन्थों का सम्पादन किया और उसमें एक बहुत लम्बी भूमिका जोड़ी जिसमें मतिराम के काव्य की पूरी समीक्षा प्रस्तुत की। मिश्रजी की इन कृतियों में काव्यालोचन की पद्धति सर्वाधिक परिष्कृत और नियंत्रित दिखाई पड़ी। उससे कुछ आशा होने लगी थी कि आलोचना का भविष्य महत्त्वपूर्ण बनाया जा सकता है। परन्तु दूसरी ओर बिहारी और देव के संघर्ष ने बात आगे बढ़ाई और लाला भगवानदीन ने 'देव और बिहारी' के जवाब में 'बिहारी और देव' लिखा। इसमें पुनः बिहारी की तारतमिक उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया गया था। लालाजी ने अपने पक्ष का अधिक सतर्क उत्तर दिया और उसके बाद इस विषय का जोश ठंडा पड़ गया था। इस युग में निर्णयात्मक आलोचना का प्रचंड रूप लालाजी में बहुत दिखाई पड़ा था। कविवर मैथिलीशरण की आरम्भिक रचनाएँ—'भारत भारती' और 'जयद्रथवध' जब प्रकाशित हुईं तब लालाजी अपनी 'लक्ष्मी' पत्रिका में दो वर्षों तक उनकी भयंकर आलोचना लिखते रहे। 'यतिभंग हो गया' 'तुक बिगड़ गया', 'कवि परंपरा का पालन नहीं हुआ' आदि बातों को ले कर उन्होंने बहुत

भला-बुरा कहा। इन रचनाओं से छुट्टी मिलते ही वे पं० रामचरित उपाध्याय कृत 'रामचरित चिंतामणि' से लिपट पड़े और उसकी भी पूरी मरम्मत कर डाली। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने लालाजी की आलोचना की और शीर्षक दिया "लालाजी की लंतरानी।' उसके विरुद्ध लालाजी का लेख निकला "चौबेजी का चाइयाँपन"। इस संक्षिप्त विवरण से इतना तो स्पष्ट मालूम पड़ जाता है कि लालाजी किस कोटे के अखाड़िया आलोचक थे।

आलोचना के क्षेत्र में बाबू श्यामसुन्दरदास और पं० रामचन्द्र शुक्ल का उल्लेख अनिवार्य है। इन दोनों अप्रतिम आलोचकों ने वह काम किया है जिसे करने में न जाने कितने दशकों की आवश्यकता होती है। गुणावगुण-कथन, दोष-दर्शन और व्यक्तिगत आग्रहों से ऊपर उठा कर हिन्दी समीक्षा को उन्होंने उस उच्च भूमिका पर ला रखा था जहाँ उसे गौरव, प्रकाश और निखार मिला था। चिंतन, विश्लेषण, व्याख्या, और सिद्धान्त का पूर्ण योग उपस्थित कर हिन्दी की विविध समीक्षा प्रणालियों का इतना दिव्य परिष्कार उन्होंने कर दिया था कि आज भी हम उसी दीप्ति और स्तर को लिए वेधड़क चले जा रहे हैं। इन दोनों व्यक्तियों ने हिन्दी समीक्षा के सामान्य धरातल को तत्त्वाभिनिवेश के लिए पूर्ण समर्थ बना दिया था। इनके पूर्व तो केवल आलू-चना दिखाई पड़ा था। इन लोगों ने उसे एकाडेमिक ग्रेस (Academic Grace) प्रदान किया था। आधुनिक समीक्षा में भले ही कुछ लोगों ने नूतन दृष्टिकोण अपना लिया हो पर विश्लेषणपरक गंभीर आच्छादन उसी प्रकार डाल सकें इसकी फिक्र में सभी व्याकुल दिखाई पड़ते हैं।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' 'रूपक रहस्य' और 'हिन्दी भाषा और साहित्य' के द्वारा साहित्य के सिद्धान्त-पक्ष की स्थापना की; साथ ही 'भाषा-विज्ञान' और 'भाषा-रहस्य' लिख कर भाषा-तत्त्व के विश्लेषण की प्रवृत्ति भी जगाई। भाषा और साहित्य की विवेचना करते समय किस कोटि के गांभीर्य की अथवा किस प्रकार की पदावली की

आवश्यकता पड़ती है उसका रूप स्थिर करना ही उक्त ग्रंथों का लक्ष्य था। पं० रामचन्द्र शुक्ल की कृतियों में व्यावहारिक आलोचना की प्रायः सभी प्रणालियों के दर्शन हो जाते थे। उनकी अपनी प्रतिनिधि शैली तो मूलतः व्याख्यात्मक थी; जिसमें कवि-कर्म के समस्त बाह्याभ्यन्तर की सूक्ष्म से सूक्ष्म सुन्दरताओं को सरल से सरल ढंग से समझा कर रख देने की वृत्ति ही मुख्य रहती थी। प्रसंग के अनुसार कहीं वे शुद्ध वितर्क का आश्रय ले कर चलते थे तो कहीं तुलना और तारतम्य निरूपित करने में लग जाते थे। भावात्मक शैली में भी विषय-निवेदन की क्षमता उनमें थी। व्यंग्यात्मक आलोचना में तो वे सिद्धहस्त थे ही। उनके सभी समीक्षा ग्रंथ विचारोत्तेजक और आलोचना के मार्ग को प्रशस्त करने वाले हुए हैं। सूर, तुलसी, जायसी की विस्तृत एवं सर्वांगीण विवेचना उन्होंने की थी। 'चिंतामणि' (दोनों भाग) में भी आलोचनात्मक कृतियों का ही संग्रह मुख्य है और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' तो मानो आलोचनात्मक दृष्टि-प्रसार का ही आकर ग्रंथ है।

इस उत्थान के भीतर आने वाले में 'साहित्य संदेश' के अमर संपादक मुंशी गुलाबरायजी भी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के प्रमुख स्तंभों में है। 'काव्य विमर्श', 'सिद्धांत और अध्ययन', 'काव्य के रूप' आदि कई पुस्तकों की रचना उन्होंने की हैं। ये रचनाएँ विद्यार्थियों के गले के हार हैं। बिना इनसे सहारा लिए आज का विद्यार्थी आगे बढ़ता नहीं—यही इनकी सिद्धि है और यही इनकी उपादेयता है। इनके अतिरिक्त भी राय महोदय निरंतर कुछ लिखने में लगे ही रहते हैं। अध्यवसायपूर्वक लिखनेवालों में इनका नाम सब से पहले लिया जा सकता है। इसी तरह श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी पहले कुछ आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी थीं जिनमें प्रमुख हैं—'विश्व साहित्य' 'हिन्दी की कहानियाँ' 'हिन्दी के उपन्यास' आदि। इनकी रचनाएँ, एक प्रकार से, व्यावहारिक समीक्षा से संबद्ध हैं। किसी किसी रचना की विशेषताओं का उद्घाटन करते समय बख्शी जी आवश्यकतानुसार

सिद्धान्तों का भी विवेचन करते गए हैं। ऐसे स्थलों पर उनकी सूक्ष्म दृष्टि और विषय-निरूपण की प्रणाली साफ-सुथरी दिखाई पड़ती है। इधर आकर समीक्षक का बाना शायद उन्होंने छोड़ दिया है और निबंध-रचना में प्रवृत्त हो गए हैं।

गद्य साहित्य का तृतीय उत्थान

(१६२५–१६५०)

द्वितीय उत्थान में हम देख आए हैं कि हिन्दी गद्य का विकास यथोचित रूप में और यथाक्रम होता गया था। उसके भीतर गद्य के सभी रचना-प्रकारों का स्वरूप पूर्णतया संगठित हो गया था; उसमें स्थिरता, परिष्कार और निखार दिखाई पड़ने लगा था। नाटक, कहानी, उपन्यास, निबंध, आलोचना—सभी की गतिविधि बड़ी संतोषजनक थी। अब यहाँ देखना यह है कि उस परंपरा का निर्वाह आगे तृतीय उत्थान में किस प्रकार हुआ है और आगे बढ़ कर इन विषयों में युगधर्म के अनुरूप कहाँ तक नूतन उद्भावनाओं और पद्धतियों का उन्मेष दिखाई पड़ता हैं। नाटकों में रंगढंग बदला मिलता है; सामाजिक और समस्यामूलक परिस्थितियों और घटनाओं की ओर भी लोगों की दृष्टि जाने लगी है, एकांकियों की माँग वृद्धि पर है; लिखने वाले भी अपनी अपनी वैयक्तिक भंगिमाओं को लेकर सामने आते जा रहे हैं। कहानी के प्रति लोगों का अधिकाधिक स्नेह बढ़ती पर है और नित नए रचनाकार नूतन विधान रचने के फेर में लगे हैं। संवेदनशीलता के स्थान पर बौद्धिकता को विशेष प्रश्रय मिलता जा रहा है। मनोविश्लेषण, दुहरे कथानकों का प्रयोग और वातावरण की प्रमुखता वहाँ भी नूतन संभावनाओं का रूप सामने रख रही है। इस उत्थान में आ कर उपन्यास के रूप, लक्ष्य, और रचना-विधान में भी कम परिवर्तन नहीं हुआ है। प्रत्येक उपन्यासकार एक अदा से उपस्थित हो रहा है। सभी किसी न किसी प्रकार के मानसिक असंतुलन की अभिव्यक्ति करते दिखाई पड़ रहे हैं। निबंधों में वस्तुपरक दृष्टिकोण के स्थान पर व्यक्तिमूलक स्थापनाओं की ओर प्रवृत्ति बढ़ रही है। विचार-

विवेचना की ओर से हटकर व्यक्ति की मनःस्थिति के अनेकरूप झाड़ी-झंखाड़ में फँसने-फँसाने का प्रयास अधिक हो रहा हैं। भाषा-शैली का उत्तरोत्तर परिष्कार अवश्य होता जा रहा है। पर व्यवहार अथवा व्याकरण की च्युति का विचार फिर एक बार कम होने लगा है। आलोचना की उन्नति दिन दूनी रात चौगुनी हो रही है। साहित्य के हित-चिंतकों के सामने यह प्रश्न खड़ा होता जा रहा है कि कुछ दिनों में कहीं ऐसी स्थिति न आ पड़े कि सामने केवल आलोचना ही आलोचना रह जाए और आलोच्य ही सर्वथा विलुप्त दिखाई पड़े। समीक्षा के मानदण्डों के फेर में पड़ी हमारी आलोचक मण्डली बेतरह भ्रमित और परेशान है। नई-नई पकड़ की खोज अथवा नए-नए आधारिक सिद्धान्तों की कल्पना में हमारे विचारक पड़े मिलते हैं। इस विचारणीय स्थिति के साथ ही इस क्षेत्र में अच्छे बहस-मुबाहसे वाले कृतिकार आते जा रहे हैं और समीक्षा की भिन्न भिन्न नई विधाएँ अपना स्वरूप संगठित करती दिखाई पड़ती हैं। आगे हम विभागीय पद्धति से इस युग के उत्थान का विवरण प्रस्तुत करते हैं।

नाटक

इस उत्थान के भीतर अनुवादों की परंपरा अक्षुण्ण चलती रही। विभिन्न भारतीय और विदेशी साहित्यों से नाटकों के अनुवाद निरंतर होते गए। स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिमा, पंचरात्र, कुन्दमाला, नागानन्द, मध्यम व्यायोग संस्कृत से अनूदित हुए। गल्सवर्दी, टाल्स्टाय, मोलियर, शेक्सपियर, शिलर, इब्सन आदि विदेशी नाटककारों की कृतियाँ हिन्दी में भाषान्तरित हुईं। बँगला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्र-लाल राय के प्रायः सभी नाटकों के अनुवाद १९२५ के पूर्व ही हो चुके थे। आगे चल कर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रायः सभी नाटकों के अनुवाद हो गए, जिनमें प्रमुख ये हैं—चित्रांगदा, राजारानी, डाकघर, व्यंग कौतुक, मुक्तधारा, विसर्जन। गिरीशचन्द्र घोष की भी

कुछ कृतियाँ अनूदित हुईं। जर्मन नाटककार लेसिंग के 'मिना' का डा० मंगलदेव ने और 'नातन' का अबुलफ़ज़ल ने अनुवाद उपस्थित किया। इस प्रकार देखा जा सकता है कि इस युग के भीतर भी अनुवादों की परंपरा बराबर चलती रही। सच बात तो यह है कि अनुवादों की पूरी सूची अभी ठीक से तैयार करने की चेष्टा नहीं हुई।

इस युग के सर्वश्रेष्ठ मौलिक नाटककार बा० जयशंकर प्रसाद हैं। उनके कुछ नाटक तो द्वितीय उत्थान के भीतर ही लिखे गए थे जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस युग में आ कर इनकी प्रौढ़तम नाटकीय कृतियाँ प्रस्तुत हुईं जो इस प्रकार हैं—जनमेजय का नागयज्ञ (१९२६) स्कन्दगुप्त (१९२८) चन्द्रगुप्त (१९३१) ध्रुवस्वामिनी (१९३३) एक घूँट (१९३०)। प्रसाद जी ने अपने नाटकों की सृष्टि का अभिप्राय आरम्भ में ही 'विशाख' (प्रथम संस्करण) में घोषित कर दिया था—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यंत लाभदायक सिद्ध होता है। × × × × क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़ कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण संदेह है। × × × × मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।" स्मरण रखना चाहिए यह प्रसंग उस समय का है जब भारतीय राजनीति के क्षेत्र में १९२१ वाला जन-व्यापी आन्दोलन आरम्भ हो गया था। पराधीन भारतीयों को अतीत गौरव गाथा सुना कर उद्बुद्ध और जागरित करना ही 'प्रसाद' का लक्ष्य मालूम पड़ता है। इस उद्देश्य के अनुरूप ही वे चरित्रबल, कर्म-निष्ठा और ऊँचे आदर्शों को ले कर जीवन-संग्राम में अवतीर्ण होने वाले जनमेजय, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि को ले कर सामने आए। अपने नाटकों में जहाँ उन्होंने एक-से-एक गौरवपूर्ण चरितावली के विशिष्ट महा-

पुरुषों को नायक रूप में उपस्थित किया वहीं नारी-गरिमा और उत्सर्ग से आपूर्ण भारतीय देवियों की भी कल्पना को जन्म दिया। देवसेना, मालविका, राज्यश्री, मल्लिका, ध्रुवा आदि का निर्माण प्रसाद की प्रतिभा की देन है।

इस विशिष्ट अभिप्राय की सिद्धि के अतिरिक्त नाटक-रचना-विधान के विचार से प्रसाद में जहाँ एक ओर भारतीय काव्य-परंपरा के निर्वाह की अद्भुत क्षमता दिखाई पड़ती है वहीं उनमें भारतेन्दुयुग का भी पुट प्रस्तुत दिखाई पड़ता है। उनमें पारसी ढंग वाली विशेषताएँ भी लक्षित होती हैं; साथ ही उन्होंने पाश्चात्य नाट्यप्रणाली के चरित्र-चित्रण की प्रधानता भी स्वीकार की है। इसी आधार पर कहा जाता है कि जहाँ उन्होंने एक ओर तो भारतवर्ष के रस-सिद्धांत का निर्वाह किया है तो दूसरी ओर पाश्चात्य ढंग के व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की भी अच्छी सृष्टि की है। प्रसाद के विषय-चयन, नाट्य-विधान और भाषाशैली की विशेषताओं को देख कर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रथम उत्थान से हिन्दी नाटकों की इस समय अत्यधिक वृद्धि हो गई है।

प्रसाद जी की सबसे अधिक चटकीली वृत्ति युगधर्म के चित्रण की है। उनके विभिन्न नाटकों में उद्दीप्त राष्ट्रभावना की जैसी मार्मिक विवृति दिखाई पड़ती है वह उनके राष्ट्रीय गौरव, देशप्रेम और युगधर्म की आकांक्षाओं को चित्रित करने की योग्यता का स्पष्ट आभास देती है। 'स्कन्दगुप्त' में पर्णदत्त और देवसेना राष्ट्र के समुद्धार के लिए भीख तक माँगते हैं। स्कन्दगुप्त के जीवन का लक्ष्य है देश को आततायियों और अनार्यों के आक्रमण से बचाना। इसी तरह 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य एक अखण्ड भारत की भव्य कल्पना और ब्राह्मणत्व के गौरव के प्रतीक-रूप में सामने आता है। ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से 'प्रसाद' ने युग की प्रेरणाओं और आकांक्षाओं के अनुरूप नारी-जागरण की पूर्ण अभिव्यक्ति की है। अभारतीय कार्नेलिया के द्वारा उन्होंने जिस रूप में भारत की वंदना कराई है उसमें प्रसाद के देश-प्रेम की ही व्यंजना होती है। इसी

तरह न जाने कितने प्रसंग उनके नाटकों में बिखरे पड़े मिलेंगे जो भारतीय राष्ट्र की नूतन चेतनाओं की ओर संकेत करते हैं।

हमारे बीच कुछ ऐसे भी अनाड़ी हैं जो 'प्रसाद' के नाटकों की अभिनेयता की कमी और काव्य तत्त्व की अधिकता पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं या प्रश्नवाची चिह्न लगाते हैं। जहाँ तक कि रंगमंचीय व्यवस्था की बात है उसके विषय में केवल इतना ही कहना है कि वहाँ तो उन्हीं नाटकों को सफलता मिल सकती है जो उसी अभिप्राय से लिखे या लिखाए जाते हैं। किसी भी ऐसे शुद्ध साहित्यकार का नाटक ऐसा नहीं मिलेगा जो बिना किसी प्रकार का परिवर्तन किए तद्वत् अभिनीत हो सके। विलायत में न जाने कितने क्लब और संस्थाएँ हैं जो केवल शेक्सपियर की नाट्यकृतियों के अभिनय का आयोजन करती हैं पर कोई नाटक अपने मूल रूप में वहाँ भी स्वीकार नहीं किया जाता। विशेष प्रकार की आवश्यक साज-सज्जा से संयुक्त हो कर, विशिष्ट कोटि के अभिनेताओं का संगठन कर और यथायोग्य परिवर्तन करके 'प्रसाद' के सब नाटक रंगमंच पर सफल बनाए जा सकते हैं। इसी प्रकार काव्य-तत्त्व की अधिकता की बात भी समझनी चाहिए। प्रसाद मूलतः भारतीय काव्य-परंपरा के प्रतिनिधि कवि हैं और नाटककार हैं। भवभूति आदि श्रेष्ठ नाटककारों के नाटकों में तीन चौथाई उत्कृष्ट कोटि की कविता है और कहा यह जाता है कि किसी अवसर विशेष पर ये नाटक खेले भी गए हैं। ऐसी स्थिति में 'प्रसाद' अपने को उसी पंक्ति में रखना चाहते हैं तो आपत्ति क्यों की जाती है। और फिर प्रसाद के पात्र भी विशुद्ध सांस्कृतिक गठन के ऊँचे दर्जे के व्यक्ति हैं। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, जनमेजय, ऋषिगण, गौतम, बिंबसार, मातृगुप्त, चाणक्य, राज्यश्री, दाण्ड्यायन ऐसे ही चरित्र हैं; उनके साथ सेल्यूकस आदि भी संतुलन निबाहने के फेर में लगे दिखाई पड़ते हैं। इतना सब होते हुए भी प्रसाद पर तत्कालीन पारसी कंपनियों के माध्यम से पड़े हुए शेक्सपियर का अथवा बँगला के द्विजेन्द्र बाबू के प्रभाव का दोष दिखाई पड़ ही जाता है। आवेशपूर्ण लम्बे

संवाद अथवा निरर्थक आत्महत्याओं में यह प्रभाव उभड़ उठा है।

प्रसाद जी के साथ ही अथवा आगे पीछे लिखने वाले अन्य श्रेष्ठ नाटककारों में अनेक हैं। पाण्डेय वेचन शर्मा 'उग्र' का लिखा नाटक 'महात्मा ईसा' अपने कथा-विधान और चरित्र-चित्रण के कारण विचारणीय है। उसमें भी प्रसाद की कार्नेलिया की तरह कई पात्र विदेशी होकर भी भारतीय दर्शन की भूमिका में चित्रित हैं। उग्र जी के इस नाटक में चरित्रांकन एवं भाषा का बल है। उसके बाद उन्होंने कई सामयिक और व्यंग्य नाटक और लिखे जिनमें 'उजबक' 'चुंबन' 'गंगा के बेटा' 'चार बेचारे' 'अवारा' 'डिक्टेटर' आदि मुख्य हैं। पं० लक्ष्मी-नारायण मिश्र का नाटक अशोक उनकी पहली नाट्य-कृति है। वह रचना प्रसाद-पद्धति के समीप है। आरंभिक कृति होने से उसमें परिष्कार की कमी का होना नितांत स्वाभाविक है। फिर भी आजमाइश के ख्याल से प्रयास अच्छा है। अशोक का व्यक्तित्व साफ है और यह नाटक मिश्र जी के भावी रूप का आभास देता है—यही बहुत है।

दूसरी करवट में मिश्र जी समाज की ओर ध्यान ले गए हैं और राजनीतिक जागरण से उत्पन्न देश की वर्तमान समस्याओं का कुछ विचार किया है। उस समय (१९३१) जो नाटक उनके लिखे हैं उनमें व्यक्त परिस्थितियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'संन्यासी' 'राक्षस का मंदिर' 'राजयोग' 'सिन्दूर की होली' और 'मुक्ति का रहस्य' विषय के विचार से और नाट्य-रचना के विधान के आधार पर एक नए युग की चेतना को जागरित करते हैं। शुद्ध समस्या का रूप उपस्थित करने वाले एकमात्र हिन्दी के नाटककार मिश्र जी ही हैं। 'सिंदूर की होली' में विवाह के विषय में नए-पुराने दृष्टिकोणों को इस प्रकार उन्होंने आमने-सामने रखा है कि शुद्ध बुद्धि को यह निर्णय देना कठिन हो जाता है कि 'चन्द्रकला' और 'मनोरमा' में से किसके पक्ष को उचित और किसके पक्ष को अनुचित कहा जाय अथवा अपने को किस के साथ संलग्न किया जाए। आज के दिन के न जाने कितने कितने ऐसे चित्र,

राजनीति, धर्म और समाज के भीतर दिनरात आया करते हैं जो प्राचीन रूढ़ धारणाओं एवं परंपराओं की मान्यताओं को ले कर चले आते हुए नाना प्रकार से विकृत हो गए हैं और देश को अपकर्षोन्मुख बनाने में कारण हो रहे हैं; साथ ही नव संस्कृति के निर्माण, गठन और उत्तेजन के नाम पर विदेशी रीति नीति से स्फुरित नई नई भावनाएँ, दृष्टिकोण और दर्शन चकाचौंध पैदा कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में या तो लोग रुढ़िवादी हो उठते हैं या फिर नये फैशन वाले बने दिखाई पड़ते हैं। इन दोनों परिस्थितियों से हमें भयभीत होना चाहिए और दोनों के बीच बुद्धिपूर्वक सन्तुलन का प्रश्रय लेना चाहिए। मिश्रजी के इन नाटकों में नए-पुराने सभी को बुद्धि की तुला पर नापने तौलने का प्रयास किया गया है और हमारी आज की यथार्थ वस्तुस्थिति की बौद्धिक मीमांसा का नाटकीय रूप सामने लाया गया है।

इन नाटकों का रचना-विधान प्रकृत्या पाश्चात्य है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यथार्थवादी अथवा समस्या-प्रधान नाटककार विलायत में हुए। उस विधान को मिश्र जी ने पूर्णतया अपना लिया है। लम्बे लम्बे रंगमंचीय निर्देश पात्रों के वेश-विन्यास, वर्णन और परिचय काव्य तत्त्व के प्रति अरुचि, यथार्थ जीवन से वस्तु संग्रह, युगधर्म विषयक आक्षेप, व्यंग्यों की बौछार आदि का इन नाटकों में स्वच्छन्दता से उपयोग हुआ। थोड़े में कहा जा सकता है कि उक्त समस्याप्रधान नाटकों का बाह्य-विधान पाश्चात्य है पर उनका अन्तःकरण सर्वथा भारतीय है। सिन्दूर की होली की मूल समस्या ही इस देश की है, इसके उपरान्त कर्म के अनुरूप फल होने की बात भी भारतीय ही मानी जायगी। मुरारीलाल जिन जघन्य पापों में संलग्न दिखाई पड़ा है कि उसका परिणाम यह होता है कि मनोरमा और मनोजशंकर तो उसका साथ छोड़ कर जा ही रहे थे; उसकी अपनी पुत्री तक ने उसका साथ छोड़ दिया और वह अकेले अपने कर्मों का भोग भोगने के लिए पड़ा रह जाता है। इस तरह स्वीकार किया जा सकता है कि मिश्रजी ने चोला भले हीं विलायती

धारण कर लिया हो पर अन्तःकरण से बने रहे भारतीय ही।

तीसरी करवट में आकर वे ऐतिहासिक नाटकों के फेर में पड़े मिलते हैं। इस करवट में उन्होंने कई नाटक लिखे—नारद की वीणा, गरुडध्वज, वत्सराज, दशाश्वमेध, वितस्ता की लहरें, चक्रव्यूह, कवि भारतेन्दु, वैशाली में वसंत। इस सूची से स्पष्ट है कि ये नाटक या तो पौराणिक हैं अथवा इतिहास का योग ले कर लिखे गए हैं। इसी कोटि की रचनाओं का मुख्य उद्देश्य भारतीय संस्कृति की पीठिका पर विशिष्ट चरितावली को चित्रित करना और भारत की प्राचीन गौरवगाथा को सामने ले आना ही है। 'वैशाली में वसंत' की भूमिका में स्वयं लेखक ने स्वीकार किया है—"मेरे पिछले सांस्कृतिक नाटकों की तरह इस नाटक में भी भारतीयता के प्रति, भारतीय जीवन दर्शन के प्रति परंपरा का आग्रह और अनुराग व्यक्त हुआ है।" इस खेप के इन नाटकों में विधान संयत, कथानक का संगठन उतार-चढ़ाव पूर्ण और युगधर्म के अनुकूल है। संवादों में वैदग्ध्य, गतिशीलता और सुरुचि-सम्पन्नता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। इन संवादों में भावातिरेक मात्रा से अधिक कहीं नहीं होने पाया। अपने विषय के विस्तार को मिश्र जी यथार्थ की भूमि छोड़ने नहीं देते—यही उनकी सब से बड़ी विशेषता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात उनमें यह है कि कथानक के अनुरूप वातावरण को सजीव बनाने की आन्तरिक आकांक्षा उनमें वर्तमान दिखाई पड़ती है। यही विशेषताएँ उन्हें प्रसादोत्तर काल में श्रेष्ठ नाटककार घोषित करती हैं।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' के ऐतिहासिक नाटकों की अपनी विशेषताएँ अलग हैं। जैसे 'प्रसाद' और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भारत के प्राचीन काल से वस्तु का संगठन किया है उसी तरह 'प्रेमी' जी ने मध्यकालीन भारत से प्रेरणा ग्रहण की है। उनके नाटकों में अपने विषय के अनुरूप पीठिका की समस्त शृंगार-सज्जा की गई है और चरित्र-चित्रण के आधार पर भारतीय एवं अभारतीय का स्पष्ट पृथक्करण दिखाई पड़ता है। उनके

यश की पूर्ण स्थापना में उनके पहले तीन नाटक ही यथेष्ट प्रमाणित हुए—रक्षाबंधन, शिवा-साधना और प्रतिशोध। इनमें भी प्रथम दो तो रचना-कौशल के विचार से पूर्ण सफल हैं। शिवाजी और उनकी माता की चारित्रिक विभूतियों का शिवासाधना में सजीव उद्घाटन है। 'रक्षाबंधन' के भीतर उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य भावना का सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया है; परन्तु यही दृष्टिकोण उनके दूसरे नाटक 'स्वप्नभंग' में भी दिखाई पड़ा। आगे चल कर उनके 'आहुति' नाटक में भी कुछ इसी प्रकार का स्वर सुनाई पड़ा। वस्तुतः मेलमिलाप का सिद्धान्त ही लेखक का प्रेरक-भाव मालूम पड़ता है। 'रक्षाबंधन' का हुमायूँ इस सिद्धान्त का पक्का प्रतिनिधि दिखाया गया है। 'प्रेमी' की संवाद-पटुता सर्वत्र दिखाई पड़ती है; उसमें प्रकृतित्व, गति और भावाभिव्यक्ति की पूरी शक्ति दिखाई पड़ती है। उनके नए नाटक 'शपथ' में भारतीयों की तेजस्विता और उनके ह्रास के मूलभूत कारणों का बड़ी सफाई से विवरण उपस्थित किया गया है। हूणों के अभियान के विरुद्ध देश की रक्षा में धिष्णुवर्धन को उद्यत दिखाया गया है। कंचनी वेश्या का कृतित्व विशेष उल्लेखनीय है। मेवाड़ के बाप्पा रावल के कृतित्व की नाटकीय स्थापना से भारत को कुछ प्रेरणा देने के विचार से नूतन रंगमंचीय विधान का योग ले कर आया हुआ इनका नवीनतम नाटक 'प्रकाश स्तंभ' है। इनके 'छाया' और 'बधंन' भी युग की प्रगति का प्रतिनिधित्व भली-भाँति करते हैं।

सेठ गोविन्ददास जी नाटक-रचना के क्षेत्र में चमत्कार लेकर आए। इनके 'कर्तव्य' में इस बात की पूरी झलक है। कहाँ राम और कहाँ कृष्ण; पर लेखक ने कोशल से कर्तव्य के चित्र-फलक पर दोनों युगों के सर्वोत्तम प्रतिनिधियों को विशेष कारीगरी से एक साथ बैठा दिया है। पूर्वार्ध राम की सीमा है और उत्तरार्ध कृष्ण की। दोनों युग पुरुषों की कर्तव्य-भावना के रूप में कहाँ-कैसा तारतम्य दिखाई पड़ता है इसी को उपस्थित करना लेखक का लक्ष्य है। अपने इस कौशल में कृतिकार

कहाँ तक सफल हो सका है यह विवाद का विषय हो सकता है पर नाटक के पीछे जो कल्पना अन्तर्निहित है वह पूर्ण रूप से स्पष्ट है और लक्ष्य की पूर्ति कर देती है। सेठ साहब का दूसरा नाटक 'हर्ष' है जिसमें देशकाल के अनुसार सारी साजसज्जा चित्रित हुई है और प्रधान पात्रों के चरित्र पक्ष को स्पष्ट उभाड़ने में कौशल का अच्छा प्रयोग दिखाई पड़ता है। इस नाटक के हर्षवर्धन, माधवगुप्त और शशांक की व्यक्तिगत विशेषताएँ अधिक निखार पा सकी हैं। आधुनिक युग धर्म की आलोचना के अभिप्राय से इन्होंने एक नाटक 'प्रकाश' भी लिखा है, जिसमें वस्तुचयन और अर्थ-निवेदन निहायत सीधा है। 'कुलीनता' नाम का एक नाटक सेठजी ने और लिखा है। उनका सर्वप्रिय नाटक 'शशिगुप्त' है। 'हर्ष' के बाद शायद यह सेठजी का सर्वोत्तम नाटक है। नाट्यकला की शुद्धता इसमें कुछ निखर-सी उठी है। कथानक तो 'चन्द्रगुप्त' के ऐतिहासिक वृत्त को ले कर गढ़ा गया है पर आधुनिकतम आविष्कारों के आधार पर कुछ नयापन अवश्य पैदा किया गया। भूमिका लेखक का दावा तो यहाँ तक है कि जो स्थान संस्कृत साहित्य में 'मुद्राराक्षस' का है वही स्थान हिन्दी में इसे मिलना चाहिए। लेकिन मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त व्यक्तित्व के विचार से शून्य है पर सेठजी का चन्द्रगुप्त प्रसाद के चन्द्रगुप्त की तरह स्थिर व्यक्तित्व का नेता है। आरम्भ में इनका चाणक्य भी 'प्रसाद' के चाणक्य से बिलकुल मिलता-जुलता है। यह सब होने पर भी सेठजी का यह नाटक प्रौढ़ कृतित्व का परिचय देता है। हर्ष और शशिगुप्त के आधार पर सेठजी को विशेष ख्याति मिलनी चाहिए। इनके 'सेवापथ' और 'विकास' भी 'प्रकाश' की तरह युग की प्रवृत्तियों के नाटकीय विधान ही हैं। युगधर्म के परिचय अथवा आलोचना के विचार से इनकी विवेचना होनी चाहिए।

आज के श्रेष्ठ नाटककारों में पण्डित उदयशंकर का स्थान बहुत ऊँचा है, इसलिए नहीं कि उन्होंने दर्जनों नाटक लिख डाले हैं बल्कि

इसलिए कि उनमें नाट्य-रचना-विधान की विविधता स्फुटित है। नाटक की मूल वृत्तियों का उनमें व्यावहारिक बोध है। उन्होंने गीति नाट्य, भावनाट्य आदि कई पद्धति के नाटक लिखे और उनमें अपनी अपनी सफलता है। उनके कई गीति नाट्य निकल चुके हैं—मत्स्यगंधा, कालिदास (कालिदास, मेघदूत, विक्रमोर्वशी) राधा, विश्वामित्र आदि। इनमें सारा इतिवृत्त गीति-पद्धति पर उपस्थित किया गया है, इतिवृत्त भी भावोदय का, उसकी संघर्ष-वृत्ति का। इन गीति नाट्यों को या तो एकांत में काव्य-कृति के रूप में पढ़ कर आनंद लिया जा सकता है अथवा मधुर संगीत में इसे विन्यस्त कर छाया चित्रों की तरह अभिनीत करके इनका सौन्दर्य देखा जा सकता है। भावनाट्य की विशेषताओं का उल्लेख स्वयं लेखक ने अपने 'राधा' शीर्षक भावनाट्य में किया है—"भावनाट्य एक प्रकार की मानसिक उथल-पुथल मचाने वाली भाव धारा को लेकर चलता है और अपनी शृंखलाएँ लम्बे लम्बे छोरों से जोड़ कर समिन्विति को ग्रहण करता है। पद्धति और गीत इनका आलंबन हैं और विचार उद्दीपन, इसीलिए परिणति रस है। कायिक व्यापार उसमें नहीं होते, यदि होते हैं तो बहुत थोड़े। केवल मानसिक चिंतन का उसमें सतत प्रदर्शन होता है।" इन्हीं तत्त्वों के आधार पर भट्ट जी की इन कृतियों की मीमांसा कर लेनी चाहिए। जब स्वयं लेखक अपनी कसौटी सामने रख दे तो उससे बढ़कर मूल्यांकन का और कोई विधान नहीं हो सकता।

इस कोटि की रचनाओं की अपनी परंपरा 'प्रसाद' के 'करुणालय' और निराला के पंचवटी से जो चली वह निरंतर परिष्कृत ही होती गई और उसका प्रौढ़ रूप भट्ट जी में दिखाई पड़ा। इस वर्ग की कृतियों में मैथिलीशरण गुप्त के 'अनघ', सियारामशरण जी के 'उन्मुक्त' भगवतीचरण वर्मा के 'कर्ण' और 'तारा' प्रेमीजी के 'स्वर्ण विहान' को लिया जा सकता है। अपने अपने ढंग की रचनात्मक सुन्दरता सभी में दिखाई पड़ती है। इधर पं० सुमित्रानन्दन के संकलन 'रजतशिखर'

में इस वर्ग का निखार आ गया है।

भट्ट जी के लिखे सभी नाटकों में प्रमुख ये हैं—विक्रमादित्य, दाहर, कमला, अम्बा, सगर विजय, नया समाज। नाटकों का शोकान्तकी अथवा शोकपर्यवसायी रूप भट्ट जी को अति प्रिय है अतः इनके नाटकों में प्रायः अन्त में आकर शोक की सामग्री एकत्र मिलती है। इस विषय में अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि का संकेत लेखक ने 'दाहर' में इस प्रकार दिया है—"हिन्दी साहित्य में वियोगान्त नाटक लिखने का कदाचित् मेरा यह प्रथम प्रयास है। × × × × × शेक्सपियर के वियोगान्त नाटक ही सब से सुन्दर और अच्छे माने जाते हैं। इस कोटि के नाटकों का प्रभाव दर्शकों पर देर तक रहता है। पात्रों की विवशता इन्हें देर तक अपनी ओर खींचे रहती है। नाट्यकला का जो वास्तविक तत्त्व है वह वियोगान्त नाटकों में ही प्रतिफलित होता है।" इन विविध नाटकों की रचना की प्रेरणा कब-कहाँ से मिली इसकी सूचना अपनी भूमिकाओं में भट्ट जी ने यथास्थान दी है। इन प्रेरणाओं में मुख्य देशप्रेम की भावना ही माननी चाहिए। इतिहास और समाज के गहन अन्तराल में बिखरी देश-गौरव की कहानी को नाटकीय आवरण में उपस्थित करने से सामाजिकों में उत्सर्ग और उत्कर्ष की वृत्ति जगती है और इससे देश का कल्याण होता है। दाहर में परिस्थितियों से विवश सूर्यादेवी और परमालदेवी में प्रतिहिंसा की भावना को पूर्ण उद्दीप्त करके लेखक ने भारतीय नारी की ऊर्जस्विता का प्रकृत चित्रण किया है और महिला समाज के सामने एक चुनौती रख दी है। 'कमला' सामाजिक नाटक है। वृद्ध विवाह की व्यंग्यालोचना इसका मुख्य विषय है। देवनारायण में वृद्धभाव का सच्चा प्रतिनिधित्व उपस्थित किया गया है। सारे वस्तुप्रसार में देशकाल का यथायोग्य चित्रण और समीक्षा होती गई है। जहाँ देवनारायण में रूढ़िवादिता, संदेह और आत्म-हीनतावरोध को उभाड़ा गया है वहीं कमला में आधुनिकता, विश्वास, और अन्तर्जाग्रति को उद्दीप्त किया गया है। समाज और व्यक्ति की

क्रूरताओं की काव्यात्मक अभिव्यक्ति ने इस नाटक को आद्यन्त सरस बना दिया है।

प्राचीन कथा का आधार लेकर लिखा गया नाटक 'सगर-विजय' विषय से भले ही पौराणिक हो पर प्रभाव के विचार से सर्वथा आधुनिक है। अत्याचार एवं दुरभिसंधि के विरुद्ध न्याय और सत्य की सफलता ही नाटक से ध्वनित होती है। सूर्यवंशी महाप्रतापी सगर किस प्रकार अपने विरोधी मंत्री दुर्दम की समस्त दुरभिसंधियों का उन्मूलन कर राजकीय सत्ता पुनः अपने अधिकार में लेता है और ऐसा करने में किन परिस्थितियों का सामना उसे करना पड़ता है यही इस नाटक के वस्तु-विन्यास की रीढ़ है। इसमें दुर्दम का अहंवाद, वैद्य का मूर्खतावाद, छोटी रानी का सपत्नीभाव, विशालाक्षी की ऊर्जस्विता आदि का सजीव चित्रण हुआ है। 'अम्बा' भी कथानक की आधारभूमि के विचार से तो पौराणिक की कोटि में ही रखा जायगा पर ध्वनि की दृष्टि से सर्वथा नूतन युग का संदेशवाहक है। पुरुष जाति की उच्छृंखलताओं का उत्तर नारी का जागरण देता है। नाटक में शाल्व से तिरस्कृत हो कर अम्बा का नारीत्व गरज उठा है "पुरुष समाज की इतनी धृष्टता! स्त्रियों के सौन्दर्य की काई पर फिसलने वाली पुरुष जाति ने आज से नहीं सदा से स्त्रियों का अपमान किया है।" "यही तो समाज की मर्यादा है, असमर्थ रोगी पुरुष के विवाह के लिए एक नहीं, तीन तीन कन्याओं को हर लाना स्त्रीत्व, समाज, और मनुष्यता की हत्या नहीं तो क्या है!" इन वाक्यों से ध्वनित होनेवाली जहाँ एक ओर आधुनिक नारी की ऊर्जस्विता और अधिकार दर्प इस कृति में उभड़ा मिलता है वहीं पशुबल, अन्याय और शक्ति के विरोध में खड़े होने की प्रबल क्षमता भी अपना प्रकाश फैलाती मिलती है। परिणाम प्रभाव के विचार से भट्ट जी के ये नाटक नितांत आधुनिक हैं और लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार प्राचीन वस्तु परिधान में लिपटा भट्ट जी का एक नाटक आदिम युग भी है। 'अन्तहीन अंत' नाटक में भट्ट जी ने समाज का चित्र उपस्थित किया

है। उसमें जीवन के सत्य को नाटकीय पद्धति में अन्वित कर दिया है। एक प्रकार का यह नूतन अभिनिवेश या प्रयोग है। अपनी गरीबी से विवश एक नाटककार अपने ही रचे नाटक में विलासी पुरुष का अभिनय करते हुए किसी नारी पात्र का चुम्बन कर रहा था। उसी समय रंगभवन में उसकी वियोगिनी स्त्री प्रवेश करती है। और सामने अपने पति को इस व्यापार में संलग्न देखती है, चीत्कार करती हुई मूर्छित हो कर गिर पड़ती है और नाटक यहीं समाप्त हो जाता है। इस कृति में जीवन की यथार्थता को नाटक की वस्तु में ढाल दिया गया है। प्रभाव समष्टि के विचार से रचना प्रौढ़ है। इनकी एक रचना 'मंदिर' शीर्षक भी १९४२ में निकली थी और 'नया समाज' नई रचना है।

डाक्टर कैलाशनाथ भटनागर हिन्दी के कुशल नाटककारों में हैं, इनके पाँच नाटक मुख्य हैं—कुणाल, श्रीवत्स, चाणक्य प्रतिज्ञा, भीम प्रतिज्ञा, और मिहिरकुल। सभी नाटकों में वस्तु के सुन्दर ढंग से बाँधने की कला पूर्ण सफल दिखाई पड़ती है। इनके कई नाटक खेले भी जा चुके हैं। 'चाणक्य' में पात्रों के चरित्र को मूल वृत्तियों को यथास्थान लेखक ने ठीक उभाड़ा है। चन्द्रगुप्त का दर्प, चाणक्य का स्वाभिमान, चन्दनदास का मैत्रीभाव विशेष आकर्षण के बिन्दु हैं। 'भीम प्रतिज्ञा' को भट्ट नारायण का भावानुवाद समझिए परन्तु स्थान-स्थान पर बड़ी छूट के साथ कुछ उलट फेर भी दिखाई पड़ता है। नाटक भर में भीम का उद्धत क्रोध, द्रौपदी की प्रतिहिंसा, कर्ण और दुर्योधन का दर्प देखने समझने के अच्छे विषय हैं। भटनागर जी का 'श्रीवत्स' नाटक अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत और सुगठित है। लक्ष्मी और शनि महाराज की प्रतिद्वन्द्विता के चक्कर में पड़े 'श्रीवत्स' तथा महारानी चिन्ता की करुण स्थिति का उद्घाटन, और उनके चरित्र की दृढ़ता, सहिष्णुता और आत्मविश्वास खूब स्वच्छ हो उठे हैं। बीच बीच में विषयानुरूप संवाद और गानों से नाटक की उत्तमता और बढ़ गई है। मिहिरकुल एक मौलिक ऐतिहासिक नाटक है। प्रसिद्ध इतिहासाश्रित इसका सारा

वस्तु-विन्यास है पर काश्मीर के बालादित्य की पुत्री चन्द्रकला और मिहिरकुल के आन्तरिक स्नेह को विकसित कर के लेखक ने शृंगार की व्यवस्था कर दी है। इससे नाटक में सरसता का अच्छा समावेश हो गया है।

उपन्यासों से पूरा पड़ता न पा कर मुंशी वृन्दावनलाल जी वर्मा नाटकों की ओर झुके हैं और अभी तक दर्जनों नाटक लिख चुके हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—झांसी की रानी, हंसमयूर, राखी की लाज, पूर्व की ओर, केवट, खिलौनों की खोज, नीलकंठ, बीरबल, कनेर, बॉस की फाँस, फूलों की बोली, मंगलसूत्र, पीले हाथ, कश्मीर का काँटा, लो भाई पंचो लो, जहाँदारशाह, सगुन, ललित विक्रम आदि। इनमें अधिकतर नाटकों में इतिहास के अनुशीलन का पुट समझना चाहिए। इस लम्बी तालिका में ऐसे भी नाटक हैं जिनका नाट्य-रचना विधान प्रौढ़ और साफ है, जैसे—ललित विक्रम, पूर्व की ओर, बीरबल आदि। प्रौढ़ रचना-विधान का तत्पर्य यह है कि कथानक का संगठन, संवाद, और आदि-अन्त जिसमें ठीक उतरे हों। एक ही नाटक में जब कोई दृश्य दो-चार पृष्ठों का है तो कोई अठारह पृष्ठों का दिखाई पड़ जाता है तब विचार के लिए अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। इन नाटकों की भीड़भाड़ में कहीं-कहीं एकांकी भी दबके दिखाई पड़ जाते हैं, जैसे—'शासन का डण्डा' और 'टंटा गुरु' आदि। अपने उक्त नाटकों की ऐतिहासिक सामग्री का परिचय और उनसे प्राप्त प्रेरकता का विवरण सभी रचनाओं के भूमिका-भाग में लेखक ने दिया है। 'जय पराजय' के अतिरिक्त इधर आ कर उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के लिखे दो नाटक निकले हैं 'अलग-अलग रास्ते' और 'पैंतरे'। आधुनिक सिनेमा की रंगमंचीय साज-सज्जा का ठीक बोध होने से और अभिनय कला का व्यावहारिक ज्ञान रहने से इन कृतियों को जैसी सजावट से लेखक ने लिखा है वह पूर्णता का आभास उपस्थित करती है।

यहाँ तक तो हुई दिग्गज नाटककारों की बात। इनके अतिरिक्त

बहुत से ऐसे भी कृती हैं जिन्होंने लिखा तो कम है पर उनमें ध्यान देने योग्य बहुत सी बातें हैं। इस कोटि के नाटकों और नाटककारों का उल्लेख इस प्रकार है—मैथिलीशरण गुप्त कृत 'तिलोत्तमा' और 'चन्द्रहास'; विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'भीष्म'; सुदर्शन कृत 'अंजना' और 'दयानन्द'; गोविन्दवल्लभ पंत कृत 'अंतःपुर का छिद्र' 'कंजूस की खोपड़ी' 'वरमाला' 'राजमुकुट' 'ययाति' (१९५१) और 'अंगूर की बेटी'; कामताप्रसाद गुरु कृत 'सुदर्शन'; चंद्रराज भण्डारी कृत 'सिद्धार्थ कुमार', 'सम्राट अशोक'; जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द कृत 'समर्पण', 'गौतम नन्द' और 'प्रताप-प्रतिज्ञा'; लक्ष्मण स्वरूप कृत 'चन्द्रगुप्त मौर्य' और 'नल-दमयंती'; दशरथ ओझा कृत 'सम्राट् समुद्रगुप्त'; वियोगी हरि कृत 'छद्म-योगिनी' और 'प्रबुद्ध यामुन'; प्रेमचंद कृत 'कर्बला' और 'संग्राम'; चतुरसेन शास्त्री कृत 'अमर राठौर', 'उत्सर्ग'; जगदीशचंद्र कृत 'कोणार्क', 'मेघनाथ', 'पग-ध्वनि'; सियारामशरण गुप्त कृत 'पुण्य-पर्व'; विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल' कृत 'बुद्धदेव'; किशोरीदास वाजपेयी कृत 'सुदामा'; चन्द्रगुप्त विद्यालंकार कृत 'अशोक' और 'रेवा'।

इनके अतिरिक्त अमूर्त के मानवीकरण के माध्यम से और संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' से कुछ प्रेरणा ग्रहण कर हिन्दी में भी दो-चार सुन्दर आन्यापदेशिक नाटक लिखे गए हैं। आरम्भ में 'प्रसाद' का 'कामना' नाटक निकला था और उसमें 'प्रसाद' जी ने विवेक, दम्भ, कामना, विलास आदि भावात्मक सत्ताओं को नाटक का पात्र बनाकर स्वीकार किया था। इस पद्धति में इतनी भयंकर अस्वाभाविकता है कि नाटकत्व और उसके विषय से सामाजिकों का तादात्म्य संभव नहीं हो पाता। अच्छा हुआ यह रोग अधिक बढ़ा नहीं। बाद में पं० सुमित्रानन्दन पंत ने भी इस प्रणाली की खासी आजमाइश की और 'ज्योत्स्ना' की रचना की। इस रचना के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसमें बात हद से ज्यादा बढ़ा दी गई। ऐसी रचनाओं को साहित्यिक गड़बड़-झाला ही समझना चाहिए। कुछ इसी तरह का प्रयास पं० भगवती

प्रसाद वाजपेयी की कृति 'छलना' से भी प्रकट होता है।

एकांकी

कुछ ननु नच करके या कुछ पैंतरा बदल कर किसी बात पर आने या किसी सिद्धान्त को स्वीकारने में एक प्रकार का बनावटी गांभीर्य होता है और उसका प्रेम कुछ लोगों में सहज मालूम होता—ऐसी प्रवृत्तिवाले तक अब स्वीकार करते हैं कि हिन्दी-एकांकियों के इतिहास का आरम्भ 'प्रसाद' के 'एक घूँट' से होता है। जो लोग भारतेन्दु तक जाना चाहते हैं उन्हें समझ लेना होगा कि फिर तो उन्हें न जाने कितने पुश्त पीछे जा कर संस्कृतवालों से नाता जोड़ना पड़ेगा। 'प्रसाद' के बाद भुवनेश्वर प्रसाद के 'कारवाँ' (१९३५) से प्रायः अटूट रूप से हिन्दी में एकांकी रचनाओं का क्रम चला है। इस संग्रह की रचनाओं में प्रौढ़ता भले ही न हो पर स्वरूप गठन के विचार से उसका यह महत्त्व मानना होगा कि गद्य के इस रचना-भेद में सिद्धान्त की क्या बातें हो सकती हैं अथवा उसके भीतर उपादेयता और कलात्मक सौकर्य क्या है—इसका ज्ञान उससे स्पष्ट हो जाता है। इस संग्रह के बाद हिन्दी में अनेक लोग एकांकियों की ओर बढ़े और उसमें उद्दीपन का कार्य किया रेडियो ने। एकांकियों के प्रायः दो रूप अधिक प्रचलित हो गए हैं—छोटा और बड़ा। किसी-किसी एकांकी में केवल एक दृश्य का विधान दिखाई पड़ता है और किसी-किसी में कई दृश्यों की मालिका पिरोई मिलती है। कभी-कभी ऐसा भी मिलता है कि एक ही लेखक एक दृश्य-विधानवाली रचना भी तैयार करता है और अनेक दृश्योंवाली रचना भी। इस विषय में संकेत की बात इतनी ही दिखाई पड़ती है कि एक दृश्य अथवा अनेक दृश्यों की बात मूलतः विषय-वस्तु के आकलन के दृष्टिकोण पर अवलंबित है। दूसरी बात यह है कि कुछ लोग इस रचना-प्रकार के लिए 'लघु नाटक' और कुछ लोग 'एकांकी' संज्ञा निर्धारित करते हैं। तीसरी बात विचार की यह है कि क्या विशेष आग्रह पूर्वक इसमें केवल

ऐसे विषयों को ग्रहण करना चाहिए जिनके व्यंग्य, आक्षेप, और समस्यात्मक संस्थापन से वर्तमान की कटु आलोचना हो सके अथवा जिससे कुछ ऐसी सामयिक प्रेरणा प्राप्त हो सके कि किसी प्रकार का सुधार-परिष्कार संभव हो सके ? इन विषयों में अभी तक लेखक अथवा समीक्षक एकमत नहीं दिखाई पड़ते।

सन् १९३५ के उपरांत कई विशिष्ट कलाकार इस क्षेत्र में आए; उनमें सर्वोत्तम स्थान डा० रामकुमार वर्मा का दिखाई पड़ता है। वर्मा जी अभी तक पचासों एकांकी लिख चुके हैं और उनके अनेक संग्रह अभी तक निकल चुके हैं, उनमें प्रमुख हैं—पृथ्वीराज की आँखें, चारुमित्रा, रेशमी टाई, सप्तकिरण, रूपरंग, कौमुदी महोत्सव, ऋतुराज, दीपदान। इनमें 'कौमुदी महोत्सव' में केवल एक और अन्य में कई-कई एकांकी संगृहीत हैं; उनमें छोटी-बड़ी सभी प्रकार की रचनाएँ हैं। भिन्न-भिन्न तत्त्वों के विचार से वर्मा जी की कृतियों में अनेक विशेषताएँ देखने को मिल जाती हैं; जैसे—दीपदान में संगृहीत 'मर्यादा की वेदी पर' जो रचना है उसमें 'प्रभावान्विति' की उत्तमता निखर उठी है। 'देश की मर्यादा' पर मस्सगा भैरवी के आत्मोत्सर्ग का ऐसा दीप्तिमय रूप अंत में आ कर उभड़ता है कि अन्य बातें फीकी पड़ जाती हैं। उसका कर्मप्रधान व्यक्तित्व सब पर छा उठता है। उसकी तुलना में महाराज पौरव की भव्य वीरता आनुषंगिक एवं योगवाही मालूम पड़ती है। इस एकांकी की प्रभान्विति के तारतम्य में 'कृपाण की धार' में यही तत्त्व निहायत गड़-बड़ दिखाई देता है। इसी तरह यदि अन्य तत्त्वों का विचार किया जाय तो 'औरंगजेब की आखिरी रात' में वातावरण की विवृति अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन गई है। वहाँ पाठक के चित्त को एक प्रकार का करुण विषाद घेर लेता है और वह अन्तर्मुख हो कर बहुत कुछ सोचने-विचारने लगता है। देश-काल के सजीव प्रकाशन को देखना हो तो 'कौमुदी महोत्सव' में शामिल होना पड़ेगा। जिन रचनाओं में कृतिकार का व्यक्तित्व घुलमिल गया है वे सभी अपनी-अपनी सुन्दरताओं से

आपूर्ण हो उठी हैं। वर्मा जी की आधुनिकतम कृतियों में 'रिमझिम है। इसमें सब एकांकी स्वस्थ हास्य के उत्पादक हुए हैं—इसमें कोई संदेह नहीं, पर इसके साथ ही आज के वर्तमान जीवन की कड़ुवी स्थितियों पर कठोर प्रहार भी किया गया है। इन रूपकों से ध्वनित होने वाला सत्य हमारी आँखें खोलने के लिए विवश करता है। हास्य की विविध भूमिकाओं पर ये एकांकी कलात्मक ढंग से सजाए गए हैं और लेखक की रचना-पटुता का अच्छा प्रतिनिधित्व करते हैं।

इसी समय (१९३५) के आसपास गणेशप्रसाद द्विवेदी का एक संग्रह 'सोहाग बिन्दी' नाम से निकला जिसमें 'शैतान' 'लाटरी' आदि कहानियों में अपनापन कुछ अधिक साफ उभड़ सका है। इधर आ कर हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार 'प्रेमी' जी के एकांकी देखने में आए। उनके संग्रह 'बादलों के पार' में ग्यारह लघु नाटक एकत्र हैं—बादलों के पार, यह भी एक खेल है, घर या होटल, प्रेम अंधा है, वाणीमंदिर, रूपशिखा, नया समाज, मातृभूमि का मान, यह मेरी जन्मभूमि है, निष्ठुर न्याय और पश्चात्ताप। इसमें आपकी मुगलकालीन, वातावरण से बाहर निकलने की चेष्टा दिखाई पड़ती है। 'यह भी एक खेल है' छोटा-सा एकांकी है पर उसमें 'विजया' के आन्तरिक संघर्ष की व्यंजना बड़ी कोमल हो उठी है। 'घर या होटल' में लेखक ने 'कुमुद' की दुर्बलता को और 'सुरेन्द्र' की उदारता को खोलने की चेष्टा की है। इसी तरह अन्य कृतियों में भी विविध वृत्तियों को खुल-खेलने का अवसर दिया गया है; साथ ही उनके भीतर से झाँकनेवाले मंगल-विधान की भी झलक उपस्थित की गई है। आधुनिक राजनीति से नाना प्रकार की प्रेरणाओं को संचित कर सेठ गोविन्ददास जी ने बहुत से एकांकी लिखे हैं। उनके कई संग्रह अब तक निकल चुके हैं जिनमें प्रसिद्ध ये हैं—सप्तरश्मि, नवरस, चतुष्पथ, स्पर्धा, दो नाटक (दलित कुसुम, पतित सुमन), पंचभूत। 'सप्तरश्मि' में संगृहीत एकांकी 'ईद और होली' में हिन्दू-मुसलमान-एकता की भावना को उद्बुद्ध करने की अच्छी चेष्टा की गई है।

आधुनिक नाटककारों में पं० उदयशंकर भट्ट का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने रूपक के विविध भेदों का व्यावहारिक प्रयोग किया है और सफलता प्राप्त की है। उनके लिखे बहुत से एकांकी भी हैं, जो 'समय का अंत', 'चार एकांकी नाटक', 'अभिनव एकांकी', 'स्त्री का हृदय', 'अस्तोदय' 'क्रान्तिकारी', 'पर्दे के पीछे', में संगृहीत हैं। इनमें से अंतिम नई रचनाओं का संग्रह है। पौराणिक इतिवृत्तों के माध्यम से नवीन युग को संदेश देने की वृत्ति तो उनके नाटकों में भी देखी जाती है पर इस नए एकांकियों में तो खुल कर उन्होंने सामाजिक व्यंग्य-प्रहार किए हैं। आधुनिक शिक्षा से जिस प्रकार के व्यक्तिवादी अहं को प्रेरणा मिल रही है उसका प्रभाव महिला समाज पर अरुचिकर एवं अस्वस्थ रूप से पड़ रहा है—इसी की नाटकीय अवतारणा चौथी रचना 'मायोपिया' और छठी रचना 'बर्गेन' में दिखाई पड़ती है। 'पर्दे के पीछे' में भीतर कुछ, बाहर कुछ के रूप में आदर्शवाद के खोखलेपन को उभाड़ा गया है। इसी तरह 'नई बात' में भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोणों का द्वन्द्व और आधुनिक युग में जो हमारे बीच भौतिकता का स्वागत हो रहा है उस पर प्रश्नवाची चिह्न लगाया है।

एकांकी के क्षेत्र में भगवती चरण वर्मा बहुत पुराने हैं। उनका लिखा पहला एकांकी—'सब से बड़ा आदमी' १६३६ में प्रकाशित हुआ था। १६५० में जो संग्रह 'बुझता दीपक' निकला है उसमें उक्त आदिवासी एकांकी भी सम्मिलित है। किसी लड़के के फेर में एक प्रेरणा जगी और लेखक ने उसे इस रचना में ढाल दिया। इस संग्रह में चार कृतियाँ हैं; उनमें अन्तिम हैं 'बुझता दीपक' जो बड़ा भी है और अपेक्षापूर्ण अधिक प्रौढ़ और कलात्मक है। अंत में आ कर उसमें जैसे प्रभाव सिमिट उठा है। इस रचना का अंत पूर्णतया नाटकीय है, इसमें संदेह नहीं हो सकता। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने यों तो और भी एकांकी लिखे हैं पर उनके आधुनिक (१६५५) संग्रह 'कावेरी में कमल' के भीतर तीन नाटक हैं। उनमें प्रथम 'कावेरी में कमल' ऐतिहासिक

और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर रचा गया है और उसमें देशकाल के वातावरण को सजीव बना दिया गया है। वस्तु लघु होने पर भी उतार-चढ़ाव से संयुक्त है और अन्त अथवा पर्यवसान नाटकोचित है। केवल सूच्यांश और अवांतर बातों को ले कर निरर्थक दूर तक संवाद सजाने का दोष अवश्य खटकता है; पर यह दोष तो उनके नाटकों में भी दिखाई पड़ता है। उक्त एकांकी के अंत में प्राचीन पद्धति का आशीर्वचन बड़े कौशल से उपस्थित किया गया है।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने भी एकांकी रचना का आरम्भ बहुत पहले कर दिया था। उनकी पहली कृति 'पापी' थी जो १९३७ के विशाल भारत में निकली थी। तब से ले कर अब तक उनकी अनेक रचनाएँ निकल चुकी हैं। इनके नाटकीय विधान की अभिनव अभिव्यक्ति सब में दिखाई पड़ती है। इनकी अति प्रसिद्ध कृतियों में 'लक्ष्मी का स्वागत' है। उसमें 'रौशन' की कारुणिक स्थिति का सजीव चित्रण है साथ ही सामाजिक एवं कौटुम्बिक निर्ममता का उद्घाटन मार्मिक ढंग से हुआ है। इसी तरह दूसरे एकांकी 'सूखी डाली' में भारतीय सम्मिलित परिवार की रूढ़िवादी परंपरा के मूल में निवास करनेवाली सदाशयता का सौन्दर्य उभाड़ा गया है। इनके नये संग्रह 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' में उनके लिखे कुछ प्रहसन हैं, जिनकी रंगमंचीयता अथवा जिनके अभिनय की सर्वांगीणता की प्रशंसा है। इधर जगदीशचन्द्र माथुर में एकांकी रचना की विशेष पटुता दिखाई पड़ी है। उनके लिखे 'रीढ़ की हड्डी' में वर्तमान समाज के एक अंग की कुरूपता का बड़ा ही मार्मिक उद्घाटन हुआ है। 'उमा' की सहनशीलता की सीमा और उसकी अन्तस् से निकली व्यंग्योक्ति का उस कृति में अच्छा समन्वय हुआ है। एकांकियों की सामाजिक उपादेयता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि उनके माध्यम से युग में प्रचलित कुरूपताओं पर सीधा आघात हो। इस विषय में रचना का यह भेद जितने काम का सिद्ध हो सकता है और नहीं। इधर आ कर हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार बाबू वृन्दावनलाल ने भी कई

एकांकी लिखे हैं जिनमें कुछ का पहले उल्लेख हो चुका है। मयूर प्रकाशन से जो उनकी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं उनमें 'जहाँदारशाह' और 'सगुन' प्रमुख हैं। यहाँ थोड़े में रचना के इस रूप का विकास-परिचय दिया गया है पर वर्तमान को देख कर और भविष्य का अनुमान कर कहा जा सकता कि शीघ्र ही इसमें रचना-विधान, उद्देश्य और अधिकाधिक परिष्कार का रूप आगे देखने में आएगा।

उपन्यास

इस उत्थान के भीतर जिस प्रकार का उत्साहवर्धक नवोन्मेष नाटक के क्षेत्र में दिखाई पड़ा उतना ही अथवा उससे कुछ अधिक ही उपन्यास के क्षेत्र में भी मिला। इसके पूर्व उपन्यास या तो चमत्कार में डालनेवाले वा नानाविधि से कुतूहल के भाव को जगानेवाले ही लिखे गए थे। उनमें मनोरंजक या गुदगुदानेवाली बातें अधिक रहती थीं। जीवन की व्यापक और यथार्थ भूमि को आधार बनाकर ये उपन्यास नहीं लिखे गए थे। अधिकतर उनमें कल्पना-प्रसूत दशाएँ और परिस्थितियाँ ही उपयोग में लाई जाती थीं और आरोप की भावना ही अधिकाधिक निर्माण का कार्य करती थी। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक के समाप्त होते होते भारतीय जन-जीवन में नवीन चेतना और नूतन अभिनिवेश का जागरण हो रहा था। राजनीतिक वस्तुस्थिति में परिवर्तन लक्षित होने लगे थे। प्रथम विश्वव्यापी महायुद्ध के साथ साथ भारत की जनता में विचारात्मक और भावात्मक वृत्तियों का विशेष स्फुरण देखने में आया था। युद्ध-समाप्ति पर भारत के भीतर क्षोभ, निराशा और स्वाभिमान की जागर्ति दिखाई पड़ने लगी और १९२१ के राजनीतिक आंदोलन में उसकी क्रियागत अभिव्यक्ति भी सामने आ गई। इस नई लहर का प्रभाव केवल राजनीति पर ही पड़ कर नहीं रह गया। वरन् जीवन के सभी पक्षों और मूल्यों का नए सिरे से आलोड़न, आकलन और आलोचन होने लगा। व्यक्ति के भीतर की

आत्मपरक भावना उभड़ कर उदार बन गई। अभी तक जो अपने अपने भीतर डूबे रहने की वृत्ति थी उसका शोधन हुआ और व्यक्ति एवं समाज की दूरी हट चली। इसके साथ ही सामाजिक जीवन की विविध मान्यताओं, विश्वासों और आकांक्षाओं के स्वरूप में परिवर्तन की सम्भावना बहुत साफ हो उठी। अभी तक अप्रतिहत रूप में चली आती हुई वर्गवादिता और रूढ़िवादिता के सामने प्रश्न खड़े होने लगे और इन सब बातों का प्रभाव साहित्य-सर्जना के भीतर भी दिखाई पड़ने लगा—विशेषतः उपन्यासों के क्षेत्र के भीतर।

अभी तक का जैसा सामाजिक संगठन या रूप था उसमें कुछ लोग जीवन के विविध प्रकार के सुख-सुपास से आपूर्ण थे; दूसरी ओर इसी के अभाव से ग्रस्त कुछ दूसरे लोग भी थे जिन्हें अनेक प्रकार के कष्टों और संघर्षों का नित्य सामना करना पड़ता था। खाने-पीने से सुचित्त और रूढ़िवादी अहंमन्यता में डूबे हुए धनिक, पूँजीपति और जमींदार एक ओर थे तो दूसरी ओर जी-तोड़ श्रम करके भी नाना प्रकार के अभावों से त्रस्त और मन-वचन-कर्म से सर्वथा हीन या दुर्बल श्रमिक और कृषक वर्ग था। इस प्रकार के दो वर्गों में सारा समाज बँटा हुआ था और अपने में डूबा, एक-दूसरे से पृथक्, तटस्थ और निर्मम बना हुआ था। इस समय साहित्य का यही परम धर्म और लक्ष्य बनने लगा कि इस कृत्रिम दूरी और व्यवधान के बिना हटे समाज में संतुलन, शांति और आत्मभाव का विस्तार नहीं हो सकता। इस समय की कविता ने अंतर्मुखी वृत्ति अपनाई थी और इसीलिए जन-जीवन से वह कुछ दूर पड़ गई। युग की आकांक्षाओं और प्रेरणाओं के अनुरूप इस समय के गद्य ने अवश्य योग दिया। उपन्यास, कहानी, नाटक आदि गद्य की विविध विधाओं ने अपने समय की माँग को पहचाना और युग की समस्त चेतना को अपने में बटोरने की चेष्टा की। परिणाम यह हुआ कि उपन्यासों के माध्यम से कृतिकार सामाजिक जीवन के भीतर मिलनेवाली नानामुखी दुर्बलताओं, असमताओं और

परंपरामूलक असंगतियों के उच्छेदन की ओर उन्मुख हुए; उनके अहितकारी रूपों के चित्रण-वर्णन की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया और उनके स्थान पर सुन्दर कल्याणकारी और स्वस्थ संभावना का स्वरूप भी रखने लगे। इस प्रकार इस उत्थान के उपन्यासों और उपन्यासकारों के सामने यह कर्तव्य रूप से उपस्थित हुआ कि साहित्य और जीवन की अन्योन्यता को जगाएँ।

किस प्रकार समाज, इतिहास, कुटुम्ब आदि के भीतर से उपन्यासों का वस्तु गठित हो सकता है और युगधर्म को रचना के इस भेद में किस रूप से ढाला जा सकता है इसका ज्ञान देशी-विदेशी उपन्यासों से हिन्दीवालों को हो गया था अथवा हो रहा था। आदर्श के रूप में अनेकानेक ऐसी कृतियों के अनुवाद हिन्दी में हो चुके थे। इसलिए रचना के स्वरूप का बोध हो गया था। विषय की इस समय कमी थी ही नहीं; रूढ़ियों से ग्रस्त इस पराधीन देश के सामाजिक जीवन में अनेक ऐसी बातें दिखाई पड़ती थीं जिससे लेखकों को तरह-तरह की प्रेरणाएँ मिल सकती थीं। पराधीनता के कारण देशवासियों के चरित्र में नाना प्रकार की कमजोरियाँ तो दिखाई पड़ती ही थीं; साथ ही कहीं बाल और वृद्ध-विवाह दिखाई देता था तो कहीं छुआछूत और दहेज का बोल-बाला था। एक ओर वेश्याओं और भिखमंगों की भीड़ थी तो दूसरी ओर कृषकों तथा मजदूरों का प्रश्न खड़ा था। राष्ट्रिय चेतना के प्रकाश में ये सामाजिक विकृतियाँ और जटिल बनती जा रही थीं। इस प्रकार तृतीय उत्थान के कथाकारों के लिए पर्याप्त प्रेरणा चतुर्दिक फैली मिली। रचना-क्रिया के विचार से भी हिन्दी में कुछ अच्छी कहानियाँ द्वितीय उत्थान के भीतर लिखी जा चुकी थीं, जिनमें सामान्य एवं असामान्य सभी प्रकार की स्थितियों के उद्घाटन की क्षमता दिखाई पड़ चुकी थी। भाव-चित्रण और चरित्रांकन की भी शक्ति उनमें अच्छी तरह उभाड़ी जा चुकी थी। उपन्यास की सफलता के लिए सब प्रकार के मसाले एकत्र हो चुके थे। एक प्रतिभा-सम्पन्न कृतिकार की आवश्यकता थी

और वह पूरी हुई प्रेमचन्द से।

इस उत्थान के बहुत पहले से ही प्रेमचन्द जी लिखते आ रहे थे। १६०४ और १६१२ में ही उर्दू माध्यम से उनके लिखे 'हम खुर्मा व हम सवाब' और 'जलवये ईसार' निकल चुके जो क्रमशः हिन्दी में आ कर 'प्रेमा' और 'वरदान' बन गए। छोटे-छोटे इतिवृत्तों के अतिरिक्त बड़े-बड़े कथानकों की व्यवस्था का अवसर उन्हें पहले भी मिल चुका था। पर उनके 'नवाबराय' रूप से हिन्दीवालों का अच्छा परिचय नहीं हो सका था। उनकी ओर विधिवत् ध्यान लोगों का उस समय गया जिस समय १६१८ में उनका 'सेवासदन' निकला। इसमें विषय का जितना सुन्दर प्रतिपादन, लक्ष्य की पूर्ति में जैसी सफाई और भाषा शैली की जैसी गत्वरता दिखाई पड़ी उससे उपन्यास-रचना के क्षेत्र में प्रेमचन्द की धाक जम गई। इस आरंभिक कृति में दहेज प्रथा की अमानवता का बड़ा व्यावहारिक चित्रण किया गया है और समाज की सहानुभूति को उद्दीप्त करने में लेखक को पूरी सफलता मिली है। 'लाला कृष्णचन्द्र' की विवशता, 'सुमन' के जीवन की करुण कहानी, 'शांता' की सहनशीलता आदि बातें चित्त को आर्द्र बना देती हैं। 'निर्मला' में भी वृद्धविवाह और उससे उत्पन्न समस्याओं का ही चित्रण है। चरित्र की सूक्ष्मताओं को सजीव रूप में उपस्थित करने की क्षमता आरम्भ से ही प्रेमचन्द में दिखाई पड़ती चली आ रही है। 'प्रेमाश्रम' (१६२१) में आ कर वे पहली बार शुद्ध ग्राम-जीवन और कृषक में अनुरक्त दिखाई पड़ते हैं। यह उपन्यास ग्राम-जीवन का एक विशाल चित्र है। एक ओर राजनीतिक आन्दोलन छिड़ा और उसकी प्रतिध्वनि के रूप में साहित्यकार ने आवाज लगाई—जमीदारी प्रथा की उपयोगिता कुछ नहीं। कृषक ही भूमि का स्वामी है। इस उपन्यास में इन्हीं दोनों की संघर्ष-कथा बड़े विस्तार से कही गई है। पहले 'सेवासदन' की स्थापना करनेवाला लेखक यहाँ आ कर 'प्रेमाश्रम' खोलने में तत्पर मिलता है। इसी उपन्यास से विस्तार-भारवाला दोष प्रेमचन्द जी में दिखाई पड़ने

लगता है। इसमें आत्म-हत्याओं की जो बाढ़ आई है उससे कृतिकार की कलात्मक सर्जना में कुछ धक्का ही लगता है। शंकरत्रय—ज्ञानशंकर, प्रभाशंकर और प्रेमशंकर, की वाणी और कृतित्व अपेक्षाकृत कुछ अधिक रंगीन हो गया है। इस रचना से यह तो साफ प्रकट होता है कि अभी तक प्रेमचन्द जी अपने पेशे में माहिर नहीं हो सके थे।

वस्तुतः प्रेमचन्द में निखार आया है उस समय जब वे 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' के संकुचित सीमा-क्षेत्र से निकल कर भारतीय जीवन की समग्रता की व्यापक 'रंगभूमि' पर पहुँचे हैं। इस उपन्यास में अपने निवासस्थान पांडेपुर (बनारस) को उन्होंने अपने वस्तु-प्रसार की भूमि के रूप में स्वीकार किया है। ग्राम में पूँजीपति के पहुँचते ही उसमें क्या भयंकर परिवर्तन लक्षित होते हैं इसका सांगोपांग और विस्तृत विवरण ही इस कृति में भरा है। नई नई प्रवेश पाई हुई सम्पूर्ण कुरूपताओं के विरुद्ध एक महात्मा सूरदास खड़ा होता है और समस्त अत्याचार और उत्पीड़न का सामना करता है। वह नाना प्रकार के अभावों से लदा रहने पर भी जिस तत्परता, निष्ठा, दृढ़ता आदि अपने चरित्र के गुणों के कारण विजय प्राप्त करता है वह उसे सत्याग्रह आन्दोलन का मूर्त प्रतीक बना देता है। उसकी सत्य पर परम आस्था और विनय, शील, सहानुभूति के प्रति विश्वास है। वह सदाचार और कर्मयोग का सच्चा प्रतिनिधि है। वह आँखों से विहीन महात्मा गांधी बना दिया गया है। सूरदास के अतिरिक्त 'विनय' और 'सोफिया' का चारित्र्य भी उत्तम ढंग से स्फुटित हुआ है। यदि चरित्र-चित्रण का विचार किया जाय तो 'रंगभूमि' में पहुँच कर प्रेमचन्द के कौशल में निखार दिखाई पड़ने लगता है। इसके वस्तु-विधान में अपेक्षाकृत सुसंबद्ध कसावट मिलती है। कलेवर के विस्तार-भार की तुलना में यह सुसंबद्धता कृतिकार की प्रौढ़ता का द्योतक है।

'कायाकल्प' के फेर में तो मुंशी जी नाहक पड़े। पता नहीं यह कायाकल्प उन्होंने अपना किया या उपन्यास रचना-विधान का। इसमें

उपन्यास के नाम पर न जाने क्या-क्या बखेड़े की बात सामने रख दी गई है। थोड़े में यही समझना चाहिए कि यह उपन्यास प्रेमचन्द जी में क्षेपक के रूप में आ गया है। क्षेपकत्व तो इतने ही से सिद्ध है ६३० पृष्ठों के 'रंगभूमि' ऐसे उपन्यास का लेखक ऐसा 'कायाकल्प' करता है कि उसे 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' ऐसे लघु उपन्यासों से अपनी उपन्यास-कारिता मानो नए सिरे से शुरू करनी पड़ी है। इनके बाद एक दूसरे तरह का प्रकाश प्रेमचन्द में दिखाई पड़ा। यह प्रकाश कृषक-जमीदार की नोंचखकोट से पूरी तरह नजात दिलाता है और कौटुम्बिक जीवन की यथार्थ बातों के भीतर से मनोवैज्ञानिक तथ्यों को बारीकी से ढूँढ़ निकालने की चेष्टा करता है। 'गबन' में आ कर पुनः सिद्ध उपन्यासकार के रूप में प्रेमचन्दजी दिखाई पड़े हैं। वस्तु-विधान की सुगढ़ व्यवस्था, चरित्र संबंधी सूक्ष्म उतार-चढ़ाव की विशेषताएँ, और देशकाल का विवरणात्मक परिचय—ऐसी सफलताएँ हैं जो इस रचना को प्रेमचन्द की सर्वोत्तम कृति प्रमाणित करने में परम सहायक होंगी। 'रमानाथ' और 'जालपा' की मूल चारित्रिक दुर्बलताएँ और उनसे प्रस्फुटित कठोर परिस्थितियों की अनेक शाखाएँ—प्रशाखाएँ—ऐसी फैल उठती हैं कि एक लम्बा विस्तार सामने खड़ा हो जाता है' 'देवीदीन', 'रतन' और 'जोहरा' का चारित्र्योद्घाटन इस उपन्यास में मौलिक सौन्दर्य की चीज है। भय की छाया भूत बन कर जैसा पीछा रमानाथ का करती है और सत्तर घाट का पानी पिलाती है वह मनोवैज्ञानिक तमाशा खड़ा करनेवाले आधुनिक कई उपन्यासकारों का पूर्व रूप है।

१६३१ के भारतव्यापी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक आन्दोलन के परिणाम स्वरूप एक बार फिर जो देश में उथल-पथल मची और नए उत्साह से फिर सम्पूर्ण स्थिति का आकलन किया गया जाने लगा या अपनी यथार्थ परिस्थितियों को फिर से समझने-बूझने की चेष्टा की गई तो उसका अप्रत्यक्ष संस्कार-प्रभाव फिर से प्रेमचन्द जी में जगा और इन्होंने 'कर्मभूमि' के माध्यम से दीन, हीन और उपेक्षित श्रमिक और

किसान को फिर ललकारा; देशकाल में भरी हुई व्यापक कमजोरियों की फिर से कड़ी आलोचना की। इसके अतिरिक्त गांधी-इर्विन-पैक्ट का संतुलन 'गवर्नर समरकांत' की प्रचारित आज्ञा से करा दिया। चित्र को फ्रेम में बैठा देने की अद्‌भुत कला थी प्रेमचन्द जी में। लेकिन इस साहित्य-निर्माता की प्रेरणाएँ आलोचनाएँ, उद्‌बोधन कुछ काम नहीं आए। सुशिक्षित और विचारवान कहे जानेवाले नागरिक हों, चाहे शहराती श्रमिक और गरीब हों किसी में कोई खास परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ा। उधर ग्रामवासी—जिनके लिए शुरू से ले कर आखिर तक प्रेमचन्द जी लड़ते रहे और जिनकी यातनाओं और कष्टों को दूर करने की चेष्टा की थी—वे भी कुछ बदले नहीं। सारी वस्तु जहाँ की तहाँ पड़ी देख कर इस साहित्यकार में शायद पराजय के लक्षण उभड़ पड़े और वह अपने सांस्कृतिक और सर्जना के मूल्यों को शून्य-सा पा कर क्षुब्ध हुआ। उसने निश्चय किया कि आगे न तो वह किसी की वकालत करेगा और न आदर्शवादी आवरण यथार्थ पर डालेगा।

टाल्सटाय के 'वार ऐण्ड पीस' की जितनी प्रशंसा वहाँ के देशी-विदेशी श्रेष्ठ समीक्षकों ने की है और जिस प्रकार उसमें महाकाव्य के विविध गुण-धर्मों का नियोजन किया है उसी प्रकार की विभिन्न विशेषताएँ आकर प्रेमचन्द जी के गोदान में मुखरित मिलती हैं। यह उपन्यास अपने में स्वयं एक वर्ग है। इसके भीतर आकर ऐसा स्पष्ट मालूम पड़ता है कि अनुभवी कृतिकार ने उपन्यास-रचना का अपना ढाँचा ही बदल दिया है और इस नूतन पद्धति की ओर उन्मुख हुआ है। यह नवीनता क्रियाकल्प या रचना-विधान तक ही परिमित नहीं है और न केवल वस्तुविन्यास एवं चरित्रांकन में अभिव्यक्त है अपितु जीवन के आन्तरिक सिद्धान्तों और व्यवहार पक्ष की समस्त मान्यताओं पर भी अपना प्रभाव डालती दिखाई देती है। जो प्रेमचन्द 'सेवासदन' से लेकर 'कर्मभूमि' तक किसी न किसी प्रकार के आदर्श-प्रचार में लगे रहे वही 'गोदान'-बेला में पहुँच कर जैसे अपनी प्राचीन सब प्रवृत्तियों

को छोड़ बैठे हों; मोह-रहित और उदार बन गए हों। पूर्व के सभी उपन्यासों में जो अनेक आत्महंता दिखाई पड़े थे वे सब प्रेमचन्द के आदर्शवाद के कारण थे। 'गोदान' में आकर पं० मातादीन और सिलिया चमारिन, झिंगुरीसिंह और ब्रह्मणी, मेहता और मालती इत्यादि का गठबंधन उन्होंने मूक भाव से स्वीकार कर लिया है।

'गोदान' में न तो लेखक का लक्ष्य कथा-प्रसंग रह गया है और न किसी व्यक्तिगत चरित्र की ओर उनकी अभिरुचि दिखाई पड़ती है। वे किसी सिद्धान्त-स्थापन की ओर भी नहीं बढ़े। इसमें निर्लिप्त कलाकार की भाँति वे स्वच्छन्द, और निरुद्देश होकर केवल वैविध्यपूर्ण जीवन और जगत् की विवरणात्मक और सामयिक अभिव्यक्ति को यथार्थ रूप में उपस्थित करने में लगे मिलते हैं। अपने उस समय के भारतीय जीवन की समग्रता को इस एक ही रचना में संपुटित करना उनका मुख्य लक्ष्य मालूम पड़ता है; और इसी लक्ष्यपूर्ति के विचार से उन्होंने व्यापक और प्रसारगामी भूमि या चित्रफलक भी ग्रहण किया है जिसकी परिधि के भीतर वर्तमान की अनेक-रूपता, वैलक्षण्य और सभी प्रकार की उच्चावचता पूर्णतया स्फुटित हो सके। इस कृति के भीतर उपन्यास-कार की अद्भुत बहुवस्तु-स्पर्शिनी प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है। इसमें उसने अपनी पहले की सम्पूर्ण साहित्य-साधना का सार प्रस्तुत किया है। कथावस्तु, चरित्र, संवाद और परिस्थिति-योजना इत्यादि उपन्यास-रचना के जो भी सामान्य तत्त्व हैं उनका जैसा भी प्रयोग प्रेमचन्द अपनी पूर्ववर्ती कृतियों में कर चुके थे उसकी पूरी छाया इस वृहत् रचना में सुरक्षित मिलती है। थोड़े में कह सकते हैं कि उनकी यह अंतिम कृति उनकी साहित्यिक वैयक्तिकता का सारांशरूप है और उनकी उपन्यास-रचना की प्रौढ़ता और उनके सम्पूर्ण बौद्धिक गठन का सच्चा प्रतिनिधित्व इस कृति से हो जाता है। हिन्दी में 'गोदान' एक महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक पड़ाव बन गया है।

प्रेमचन्द के रास्ता बनाते ही अनेक कृती उत्साहित हुए और उप-

न्यास-रचना की इस धारा को निरंतर विकसित करते रहे। 'सेवासदन' के बाद ही प्रसिद्ध नाटककार जयशंकर प्रसाद का 'कंकाल' १६१६ में निकला। आरम्भिक रचना होने के कारण उसका वस्तुविधान ऐसा हुआ है कि कहानियों की एक मालिका-सी पिरोई मालूम पड़ती है। बहुशाखामयी कथा की स्थापना है। पर समाज के मुँह पर एक थप्पड़ की तरह विषय की सजावट है। धर्म के क्षेत्र में कैसी पाखण्ड-पूजा है, नारी की स्थिति समाज में कितनी कदर्थित है, हृद्भावनाओं के फेर में अमानवीय हीनताएँ कैसी पल्लवित होती हैं—इनका बड़ा तीखा सा विवरण इस उपन्यास के माध्यम से प्राप्त होता है। एक ओर 'देव-निरंजन' ने 'किशोरी' और 'तारा' से अवैध संबंध स्थापित किया—जामा पहना महंतई का और बातें की विकृत दार्शनिकता की। दूसरी ओर ईसाई धर्मगुरु अनुराग जोड़ बैठे 'घंटी' से। यह तो हुई धर्माधिकारियों की बात। पढ़े-लिखे विचारशील नवयुवक की हालत यह है कि 'मंगलदेव' ने प्रतारित नारी 'तारा' को नष्ट किया और विवाह से भाग खड़ा हुआ। ऐसी गिरी हुई जाति का पतन अवश्यमेव निश्चित है, या तो उसे अपनी हीनताओं को सुधारना होगा अथवा उससे दूर रहना होगा। लेखक ने इस दोगले समाज के सामने जो परिणाम रखा है वह प्रतीकात्मक है। अंत में जो धर्म का जलूस है वह हमारे क्षोभ का मसाला है और दूसरी ओर जो जमुना कंकाल लिए बैठी है वह हमारी करुणा को उद्दीप्त कर रही है। जहाँ जमुना की परिस्थिति हो वहाँ मानव नहीं, मानव का कंकाल मात्र समझना चाहिए। ऐसा समाज, ऐसा देश और ऐसी जाति अमानवीय है; उसे नष्ट होना चाहिए।

'तितली' में आकर 'प्रसाद' पर कुछ तो युग की चेतना का प्रभाव पड़ा और कुछ प्रेमचन्द की कृषक दुनिया का। उन्होंने भी उसमें ग्राम-सुधार की योजना उपस्थित की है और इन्द्रदेव ऐसे पात्र को पकड़ा कि सजीव, क्रियाशील और उदार भाव से उसमें योग दे। मंत्र देने और प्रेरणा जगानेवाले बाबा रमानाथ की कल्पना तो बात बढ़ाने के लिए

है। गरिमामयी नारी 'तितली' का कृतित्व आदर्श की स्थापना या कामना है। इस उपन्यास का अंत एकदम नाटकीय है। कथानक का गठन, चरित्रांकन की सबलता, पूर्व-पीठिका की सजावट और 'राजो' ऐसी स्त्री को कल्पना प्रसादत्व का प्रमाण है। 'इरावती' उपन्यास उनका अधूरा भले ही रह गया हो पर यह सिद्ध करने के लिए यथेष्ट है कि नाटकों की तरह यदि 'प्रसाद' जी इतिहास के अंतराल में प्रवेश कर उपन्यास की सर्जना करते तो कितने सफल होते। कल्पना का इतना वास्तविक विहार शायद ही अन्यत्र कहीं मिल पाता। इस कृति के भीतर कितनी सुन्दर प्राकृतिक पृष्ठभूमियों पर विभिन्न दृश्यों की स्थापना हुई है, युग-धर्म कितने सजीव रूप में मुखरित हुआ है और कथाक्रम कितना सानुबंध बनाया गया है—इसे इसमें देखा जा सकता है।

प्रेमचन्द की परंपरा में पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने 'माँ', 'भिखारिणी' और 'संघर्ष' उपन्यास लिखे। इनके चित्रण प्रायः सामाजिक अनीतियों और विकृतियों को लेकर चले हैं और पारिवारिक जीवन और वातावरण की विवृति इनमें अच्छी मिलती है। अनुराग, उत्सर्ग, अपत्य-स्नेह आदि का चित्रण उन्होंने बड़ी मार्मिकता से किया है। भाषा की दृष्टि से भी ये प्रेमचन्द-वर्ग के हैं। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का किया हुआ कार्य इस क्षेत्र में बहुत दिनों तक स्मरण किया जायगा। 'उग्र' जी के लिखे कई उपन्यास हैं—'चन्द हसीनों के खतूत', 'बुधुआ की बेटी' 'दिल्ली का दलाल' 'घण्टा' 'सरकार तुम्हारी आँखों में' 'जीजीजी' आदि। इनमें समाज और व्यक्ति की वैलक्षण्यपूर्ण हीनताओं एवं कुरूपताओं का हृदयस्पर्शी विवरण उपस्थित किया गया है; पर उनमें लेखक की आसक्ति नहीं वरन् व्यंग्य और आक्षेप के द्वारा शोधन-वृत्ति ही अधिक मुखरित हुई है। इनकी जानदार भाषा शैली, आवेशपूर्ण विषय-स्थापन, और व्यंग्यपूर्ण आक्रमण हिन्दी में अपूर्व सिद्ध हो चुके हैं। 'उग्र' जी हिन्दी में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। इनके साथ श्री चतुरसेन शास्त्री का नाम आवश्यक है। किसी समय

इनकी हिन्दी में बड़ी चर्चा रही। शास्त्री जी के अभी तक अनेक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं—'हृदय की प्यास', 'हृदय की परख', 'अमर अभिलाषा', 'आत्मदाह', आदि। इधर उनके दो उपन्यास और देखने में आए हैं—'वैशाली की नगर वधू' और 'वयं रक्षामः'। इसमें दूसरा तो अभिनव पाण्डित्य का निरर्थक-सा प्रयास है पर उसमें एक गुण अवश्य है—चर्वित-चर्वण में भी कथा का स्वारस्य उत्पन्न कर दिया गया है। इसमें कथाकार की शक्ति और निपुणता प्रकट होती है। प्रथम उपन्यास के भीतर शास्त्री जी की रचना-शक्ति अधिक मुखरित है। देशकाल विषयक चित्र-विधान, वस्तु संगठन और चरित्र की विविध वृत्तियों का उद्‌घाटन आदि तत्त्व उसमें सफल हैं।

हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों की सुदृढ़ परंपरा स्थापित करने वालों में बाबू वृन्दावनलाल जी सर्वश्रेष्ठ हैं। आरम्भ में इन्होंने छोटे-बड़े कई उपन्यास लिखे थे जिनमें—लगन, प्रेम की भेंट, कोतवाल की करामात, कभी न कभी, मुसाहिबजू, संगम, प्रत्यागत, कुण्डली चक्र आदि हैं। लघुविस्तारी कथानकों को लेकर चलने और चरित्र की सरसता उद्‌घाटित करनेवाले ये उपन्यास वर्मा जी की प्रतिभा को उत्कर्षोन्मुख बनाने में बड़े सहायक हुए, आगे चलकर ज्यों-ज्यों स्थानीय वातावरण की सजीवता को मुखरित करने की क्षमता वर्मा जी में बढ़ती गई है त्यों-त्यों वस्तु-विन्यास का सौन्दर्य भी अधिकाधिक वृद्धि पाता गया है और 'गढ़ कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' में आते-आते उनकी कृतियों में रचनात्मक कला अपनी पूर्णावस्था को पहुँच गई मिलती है। चरित्रांकन के भीतर अवगुण्ठनमयी मधुर वृत्तियों के प्रकाशन की अद्भुत सिद्धि उनमें यहीं आकर दिखाई पड़ी है। विभिन्न परिस्थितियों के कारण दमित रतिभाव की व्यंजना को मार्मिकता के साथ उपस्थित करने में वर्मा जी पूर्णतया सफल हुए हैं। उनकी 'कुण्डलीचक्र' की 'रतन' में अथवा 'विराटा की पद्मिनी में अनुराग को जैसे कौशल और मर्यादा के

साथ झलकाया गया है वह वर्मा जी की प्रतिभा का बेजोड़ नमूना है। आगे चल कर इस रचना-वैभव की ओर वर्मा जी ने अधिक ध्यान नहीं दिया अन्यथा उस विषय की रंगीनी और निखरती। एक बात और है जो आरंभ से ही उनमें एक-रस चली आ रही है; वह है कथा की ओर आकर्षण बनाए रखने की सुघड़ता। उनकी कृतियों में आद्यन्त पाठक कथा-प्रसार के साथ-साथ अपने को ले चलना चाहता है और उसका ध्यान कथा-भाग से उचटता नहीं।

दूसरे खेप में आकर वर्मा जी ने इधर अनेक बड़े-बड़े उपन्यास लिखे हैं—टूटे काँटे, झाँसी की रानी, कचनार, हृदय की हिलोर, अचल मेरा कोई, मृगनयनी, अमरबेल, सोना आदि। इनमें 'झाँसी की रानी' में चरित्र की एकरसता और इतिहास का रुक्ष-कथन इतना प्रबल हो गया है कि उपन्यासत्व पूरी तरह विकृत हो गया है। इसे तो वस्तुतः उपन्यास नहीं जीवन-चरित्र कहना चाहिए। उपन्यास के गुणधर्म इसमें बिलकुल दब गए हैं और यह रचना तत्कालीन कागज़-पत्रों अथवा खरीतों का पुलिंदा मात्र मालूम होती है। 'अमरबेल' भी उपन्यास के नाम पर कोआपरेटिव सिस्टेम का प्रचार-पत्र मात्र बन गया है। उसमें से अफीम की पेटी यदि निकाल ली जाय तो रूखा-सा प्रचारवाद या रुक्ष यथातथ्य मात्र रह जायगा। इधर की रचनाओं में 'अचल मेरा कोई' और 'मृगनयनी' दो कृतियाँ अच्छी उतरी हैं। उनमें वस्तु के प्रति आकर्षण बना रहता है और चरित्र की सूक्ष्म भंगिमाओं की ओर ध्यान अवश्य जाता है। इन दोनों उपन्यासों का रचना-सौन्दर्य ठीक से गठित मिलता है। वस्तु के विस्तार में अवान्तर कथाओं का निरर्थक भार बढ़ाने का मोह वर्मा जी में बहुत पुराना है और इस दोष के कारण विशेषतः उनके उपन्यास कुछ ढीले मालूम पड़ते हैं।

मुंशी प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' नामक उपन्यास की अपने समय में बड़ी चर्चा थी। उसमें आधुनिक अंगरेजी पढ़े-लिखे समाज की अच्छी अभिव्यक्ति है। इस रचना में नाटकीय वस्तु-विन्यास, वैदग्ध्यपूर्ण

संवाद, आकर्षक आरम्भ और अन्त, प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भिक दृश्य-विधान—आदि तत्त्व उत्तम ढंग से नियोजित हुए हैं। 'कुमुद', 'चपला' और 'निर्मलकुमार' के चरित्र का विकासक्रम भी बहुत ही योग्यतापूर्वक दिखाया गया है। निर्मल की माता का अपत्य-स्नेह, 'सर माधवचन्द्र' का दम्भ और अभिमान 'वर्मा' की चारित्रिक क्षुद्रता आदि का इसमें कलात्मक ढंग से चित्रण मिलता है। 'केट' की कथा को व्यर्थ ही जोड़ कर कथानक के संगठन को बिगाड़ दिया गया है पर उपन्यास की नियति या उतार इतना जोरदार है कि पूर्व के उस वृत्तांत की निरर्थकता छिप जाती है। इसके उपरान्त दो-दो भागों में दो उपन्यास—'विजय' और 'विकास' और निकले हैं। 'विजय' में विधवा-विवाह की समस्या उठाई गई है। विषय की स्थापना ठीक ढंग की होने पर भी लम्बे-लम्बे स्वगत भाषणों और समाज, सभ्यता आदि के अरोचक तर्क-वितर्कों के कारण सारा प्रसार भारवत् मालूम पड़ने लगता है। आधुनिक सभ्यतावादी वातावरण इस उपन्यास में भी अपनाया गया है पर उसमें 'विदा' की तरह यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं स्वीकार किया गया। 'विकास' में मूलतः दो कथाओं की स्वतंत्र धारा एकोन्मुख नहीं हो सकीं इससे कथानक कुछ उलझ-सा गया है। 'अमीलिया' का चरित्रचित्रण अच्छा है और प्रवासियों के जीवन में भी सजीवता झलकती मिलती है। श्रीवास्तव जी के दो उपन्यास और हैं—'आशीर्वाद' और 'पाप की ओर।'

जितना मनोरम बाह्य जगत् और जीवन होता है उसी तरह अथवा उससे बढ़कर आकर्षक और अध्ययन के योग्य मनुष्य का अन्तःकरण भी होता है। कर्मक्षेत्र में मनुष्य जिस प्रकार का आचरण और व्यवहार करता है अथवा जिन आदर्शों एवं आकांक्षाओं के चक्कर में रहता है उनके मूल में उसका भीतरी मन और भावनाएँ भी नाना प्रकार से अपना प्रभाव झलकाती रहती हैं। मानव-हृदय और मस्तिष्क की छानबीन की ओर अधिक अभिरुचि दिखानेवाले हिन्दी के उपन्यासकारों

में प्रमुख जैनेन्द्र कुमार हैं। उनकी लिखी आरंभिक कृतियों—'परख' 'तपोभूमि' 'सुनीता' 'कल्याणी' 'त्यागपत्र' में इसका सुन्दर विहार देखने को मिलता है। 'परख' की उनकी 'कट्टो' केवल नारी की समस्या और यथार्थ रूप का ही प्रतिनिधित्व नहीं करती वरन् नारी-मन की उलझनों की अच्छी विवृति उपस्थित करती है। 'सुनीता' और 'हरिप्रसन्न' मनो-विश्लेषण के अच्छे उपादान हैं। 'त्यागपत्र' को 'मृणाल' की आन्तरिक मनोवृत्ति से ही उसके जीवन की धारा गतिशील दिखाई पड़ती है। अपने इन विशिष्ट पात्रों का सृजन कर जैनेन्द्र जी ने उपन्यास-वाङ्मय को एक नए मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया है और चारित्रिक भंगिमाओं की सूक्ष्मता को गंभीर अध्ययन का विषय बना दिया है। उपन्यास के अन्य विविध तत्त्वों की सजावट उनकी रचनाओं में सर्वत्र ही मिलती है—कथानक की सानुबंधता और देश-काल की कठोर आलोचना तो होती ही चलती है पर उनके विविध पात्र अपनी बाह्य एवं आन्तरिक परिस्थितियों के कारण विवेचना और परीक्षा के अच्छे विषय बन जाते हैं। इधर आकर जैनेन्द्र जी की तीन कृतियाँ और भी निकली हैं—'व्यतीत', 'विवर्त' और 'सुखदा'। शैली के विचार से इनमें कोई अपनापन विशेष नहीं दिखाई पड़ता—सब पुराने गुण-दोषों की ही आवृत्ति इनमें भी हुई है।

हिन्दी के इस युग में एक-से-एक उत्तम कोटि के उपन्यास लिखे गए हैं और उनके लेखकों में नाना प्रकार की सिद्धांत अथवा शैली विषयक विशेषताएँ मिलती हैं। मनोवैज्ञानिक चित्रण, विश्लेषण और छानबीन की ओर अपनी विशेष अभिरुचि दिखानेवालों में इलाचन्द्र जोशी को अच्छी सफलता मिली है। इनके लिखे कई उपन्यास हैं—'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'लज्जा' 'निर्वासित', 'जिप्सी', 'मुक्तिपथ', 'सुबह के भूले', 'जहाज का पंछी' आदि। इनमें अंतिम कृति नई है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी पहले तो प्रेमचन्द की पद्धति पर चले पर धीरे-धीरे मनोविश्लेषणवादी बनते गए और अन्तर्द्वन्द्व-

चित्रण की ओर झुकते गए हैं। उनके प्रमुख उपन्यास इस प्रकार हैं—'उतार चढ़ाव', 'खाली बोतल', 'चलते चलते'; 'दो बहनें', 'प्रेमपथ', 'पतिता की साधना', 'विराग', 'मनुष्य और देवता', 'पिपासा' 'पतवार', 'निमंत्रण', 'यथार्थ से आगे' आदि। अन्तर्वृत्तिनिरूपक उपन्यासों में 'अज्ञेय' जी की रचना 'शेखर : एक जीवनी' है। इसमें आकर इस वर्ग की मूल वृत्तियाँ बहुत अधिक उभड़ उठी हैं। यदि सच कहा जाय तो इसे उपन्यास की संज्ञा मिलनी ही नहीं चाहिए। लेखक ने भी पुस्तक के नामकरण में 'जीवनी' शब्द को शायद इसीलिए जोड़ दिया है। सब प्रकार से क्रांतिकारी कहे जानेवाले 'शेखर' का यह मनोवैज्ञान जीवन वृत्त है। उसकी सभी बनावट में स्थितियों का मनस्तत्त्व संबंधी कहाँ-क्या प्रभाव पड़ा है इसका समूचा विवरण एक क्रम से इस उपन्यास में लिखा गया है। 'अज्ञेय' का लिखा दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' है। इसमें उपन्यास के गुणधर्म अधिक मुखरित मिलेंगे।

इस युग में अन्य अनेक कुशल कृती उपन्यास-रचना के क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त कर चुके हैं और निरंतर सर्जना के क्षेत्र में बढ़ते जा रहे हैं। जिन लोगों की सफलता अभी तक पूर्णतया स्थापित हो चुकी है और जिनमें व्यक्तिगत विशेषताएँ साफ रूप में निखर उठी हैं और जो अपने विषय-चयन के विचार से अथवा राजनीतिक और सामाजिक विचारों के कारण अन्य से सर्वथा पृथक् हो चुके हैं उनमें प्रमुख हैं—भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, गोविन्दवल्लभ पंत, उपादेवी-मित्रा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रांगेय राघव, अंचल, राहुल सांकृत्यायन, धर्मवीर भारती आदि। क्रमशः इनकी प्रमुख कृतियों के नाम इस प्रकार हैं—तीन वर्ष, चित्रलेखा, टेढ़े मेढ़े रास्ते, आखिरी दाँव—पार्टी कामरेड, देशद्रोही, दादा कामरेड, दिव्या, मनुष्य के रूप—जल समाधि, अमिताभ, जूनिया, तारिका, प्रतिभा, मुक्ति के बंधन, प्रगति की राह, अनुरागिणी—नष्ट नीड़, रागिनी, वचन का मोल, सोहिनी, जीवन की मुस्कान, पिया, पथचारी—सितारों के खेल, पिंजरा, गिरती दीवारें,

गर्म राख, बड़ी बड़ी आँखें—विषादमठ, घरौंदे, देवकी का बेटा, लोई का ताना, चोवर, प्रतिदान, मुर्दों का टीला, सोधा साधा रास्ता—उल्का, चढ़ती धूप, मरुप्रदेश—अनाथ, दाखुंदा, मधुर स्वप्न, जो दास थे, जादू का मुल्क, जय यौधेय, वोल्गा से गंगा, शैतान की आँख, सोने की ढाल, सिंह सेनापति—सूरज का सातवाँ घोड़ा, गुनाहों का देवता। इसके बाद भी 'आदि' कहने का तात्पर्य है कि छोटे से इतिहास में यह संभव नहीं हो सकता कि सभी सुन्दर और अच्छी कृतियों का उल्लेख तक हो सके।

कहानी

कहानी के विकासक्रम के विषय में द्वितीय उत्थान के भीतर कहा जा चुका है कि अंत सीमा पर आलोक विकीर्ण करते अनेक श्रेष्ठ लेखक सामने आ चुके थे। उनमें अपने ढंग से जिनका व्यक्तित्व उत्तरोत्तर निखरता गया और जिनके ग्रहण किए हुए मार्ग का भिन्न भिन्न रूपों में आगे विकास होता गया उनमें भी वर्गोन्मेष उत्पन्न करनेवाले कृतिकार 'प्रसाद', प्रेमचन्द और 'उग्र' थे। प्रसाद की भावात्मक, प्रेमचन्द की आदर्शोन्मुख यथार्थवादी, और पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की यथार्थोन्मुख राजनीतिक रचनाओं ने अपने-अपने ढंग से प्रभाव का सृजन किया और उस प्रभाव-सीमा में अनेक यशस्वी कृतिकार आगे भी आते गए हैं। इन लोगों की अपनी-अपनी परंपराएँ निर्मित हुईं और उन परंपराओं में आगे चलकर रचना-विधान और वस्तु-संबंधी अनेक नूतन उन्मेष लक्षित होते गए हैं। 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' के उपरान्त 'प्रसाद' की कहानियों के अनेक संग्रह और निकले—'आकाश दीप' 'इन्द्रजाल' और 'आँधी'। इनमें भावात्मक पद्धति की अनेक श्रेष्ठ कहानियाँ संगृहीत हैं। विषय-प्रसार के विचार से और रचनात्मक कौशल के आधार पर इनकी विशेषताओं को आँका जा सकता है। उनमें कहीं इतिहास के अन्तराल से कथाओं के सूत्र एकत्र किए गए हैं कहीं यथार्थ जीवन का चित्रांकन मिलता है;

एक ओर 'आकाशदीप' ऐसी शुद्ध अभिनेयता से आपूर्ण नाटकीय कहानी दिखाई पड़ती है, दूसरी ओर 'सालवती' अथवा 'पुरस्कार' ऐसी इतिवृत्त-गर्भित रचना पढ़ने को मिलती है; 'गुंडा' 'बिसाती' और 'सलीम' ऐसे चरित्रों का भावात्मक अंकन भी देखने को मिलता है और विविध प्रकार के भाव-द्वन्द्वों की कलात्मक अभिव्यक्ति की ओर भी पूरी सावधानी रखी गई है। इस प्रकार थोड़े में कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' अपने समय के मूर्धन्य कहानीकार थे।

प्रेमचन्द जी इस उत्थान के भीतर आकर कहानी-सम्राट् हो गए। इतनी कहानियाँ हिन्दी में अभी तक किसी दूसरे लेखक ने नहीं लिखीं। उनकी लिखी कहानियों की संख्या लगभग चार सौ के है, जो सम्मिलित रूप में 'मानसरोवर' के आठ भागों में संकलित है। इनमें जीवन का नानात्व देखने को मिलता है। ग्राम और नगर के, विविध शिक्षा-दीक्षा के, रंक-अमीर सभी प्रकार के चित्रों से उनकी ये कहानियाँ भरी-पड़ी हैं। इसी तरह अच्छे-बुरे, नीचे-ऊँचे और भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्कृतियों में पले प्राणी भी उनमें देखने को मिलते हैं। जहाँ 'रुक्मिन' 'पयाग' और 'सुजानभगत' का यथार्थ रूप देखने में आता है वहीं 'दो सखियाँ' 'शांति' 'सोहाग का शव' और ऐक्ट्रेस में राजाबाबू, मध्यवर्ग और आधुनिक नागरिकता में पले प्राणियों का भी पूरा स्वरूप समझने को मिल जाता है। नूतन और पुरातन संस्कृतियों के संघर्ष-चित्रण में यह कुशल कृतिकार पूरा सफल है और यह संघर्ष आधुनिक समाज की मुख्य देन है। इस यथार्थवाद के साथ प्रेमचन्द का आदर्श—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर-धर्मो भयावहः'—का रूप खूब घुलामिला सर्वत्र देखा जा सकता है। जीवन की विविधता से संवेदन को रसमय रूप देने में प्रेमचन्द जी विशेष पटु दिखाई पड़ते हैं। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने यों तो बहुत सी कहानियाँ लिखी हैं और उनके कई संग्रह दिखाई पड़ते हैं पर उनकी वर्गगत विशेषताओं से आपूर्ण कहानियों के जो संग्रह 'दोज़ख की आग' और 'चिनगारियाँ' पहले निकले थे वे अपूर्व थे। उस समय तक उस

प्रकार की कृतियाँ सामने नहीं आई थीं। उनमें चार चाँद लगा दिए 'उग्र' की नूतन विधान से भरी भाषा-शैली ने। नए अप्रस्तुत विधान से आपूर्ण उनकी जोरदार और आवेशपूर्ण रचना-शैली की एक छाप पड़ गई थी आरम्भ में और राजनीतिकता को उभाड़ने की प्रवृत्ति भी उस समय के लेखकों में फैल गई थी। 'खूनी' और 'फाँसी' ऐसी कहानियाँ इस वर्ग के अंतर्गत अमर कृतियाँ हैं।

जैसे 'प्रसाद' की परंपरा में राय कृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' आदि अनेक श्रेष्ठ कृतिकारों ने सफलता प्राप्त की है और भावात्मक रंगीनी अंकित करने में निपुणता दिखाई है उसी तरह प्रेमचन्द की परंपरा में सुदर्शन, 'कौशिक' भगवतीप्रसाद वाजपेयी, वृन्दावनलाल, सियारामशरण गुप्त प्रभृति कुशल शिल्पियों ने समाज-चित्रण की ओर विशेष अभिरुचि दिखाई। प्रसाद और प्रेमचन्द की तरह 'उग्र' की परंपरा में विशेष महत्त्व के लेखक सामने आए नहीं। यों तो 'खूनी' 'कफ़न' आदि की तरह कहानियाँ समय-समय पर निकलती रहीं पर इस वर्ग की प्रगति यथोचित रूप में हुई नहीं। इसका मुख्य कारण तो यही मालूम पड़ता है कि राजनीतिक आन्दोलन की बाढ़ में देशप्रेम, उत्सर्ग, उत्साह आदि की वृत्तियाँ सामान्य बन गईं और दूसरी बात यह भी दिखाई पड़ती है कि आगे चलकर हिन्दी के रचनाकार अन्तर्मुखी विवृतियों की ओर अधिक झुकने लगे; समाज के व्यापक प्रसार-क्षेत्र से भागकर प्रायः व्यक्ति के संकुचित कोटरों में घुसने लगे। १९३० के लगभग आकर इस रचना-परिधि के भीतर नवोन्मेष के रूप दिखाई पड़ने लगे थे और जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल आदि का कृतित्व ध्यान आकर्षित करने लगा। उपन्यासों की तरह कहानी में भी लोगों की रुचि मनोवैज्ञानिक छानबीन की ओर अधिक बढ़ गई। इस कोटि के लेखकों में जैनेन्द्र जी को सच्ची सफलता मिली है। समाज के बाह्य-चित्रण के साथ अन्तर्वृत्तियों की विविध बारीकियों का मेल दिखाने में अथवा मनोजगत् के संघर्षों के साथ जगत्

के स्थूल द्वन्द्वों का सामंजस्य निरूपित करने में उन्होंने पूरी ईमानदारी बरती है। बौद्धिक और विचारमूलक विषयों का चयन, निवेदन और चित्रण इनमें अच्छा मिलता है। इनकी कहानियों के बहुत से संग्रह अभी तक निकल चुके हैं जिनमें प्रमुख हैं—'एक रात' 'जयसंधि', 'पायजेब', 'फाँसी', 'वातायन'।

इलाचन्द्र और अज्ञेय की मनोवैज्ञानिकता में अधिकतर कुण्ठाग्रस्त भावनाओं का स्थूल प्रकाशन अधिक मिलता है और संवेदनशीलता का आग्रह कम। इन लोगों में बौद्धिक रुक्षता अधिक और साहित्य-सर्जना कम रहती है। जोशी जी के कहानी-संग्रहों में मुख्य हैं—'आहुति और दिवाली' 'होली' 'रोमांटिक और छाया' और 'अज्ञेय' के 'विपथगा' 'परंपरा' 'कोठरी की बात' 'जयदोल' संग्रह प्रधान हैं। यशपाल की कहानियों में प्रधानतः समाजगत विषम समस्याएँ और व्यक्तिगत उच्चावचता या नीच-ऊँच का चित्रण रहता है। इस समाजवादी यथार्थवाद के आग्रह के फेर में इनकी रचनाएँ हृदय को उतना स्पर्श नहीं करतीं जितना बुद्धि को उद्वेलित करती हैं। इनके प्रमुख संकलन हैं—'अभिशप्त' 'भस्मावृत चिनगारी', 'ज्ञान दान', 'पिंजड़े की उड़ान' 'चित्र का शीर्षक' 'वो दुनिया' 'तर्क का तूफान'। हिन्दी में कहानी-रचना का क्षेत्र भी उपन्यास के क्षेत्र की तरह प्रसरित हुआ है। एक-से-एक आकर्षक और विचारोत्तेजक कृतिकार निरंतर लिखते जा रहे हैं। उनमें बहुत से ऐसे भी हैं जिन्होंनें लिखा है कम पर उनकी कृतियों में पर्याप्त अपनापन मिलता है और ऐसे भी हैं जिन्होंने लिखा है बहुत पर कोई विशेषता नहीं उत्पन्न कर सके। इधर आकर जिन लोगों ने इस क्षेत्र में अपना यश स्थापित किया है उनमें प्रमुख हैं—ऋषभचरण, धनीराम, राजेश्वर प्रसाद सिंह, मोहनलाल महतो, वीरेश्वर सिंह, ज्ञानचन्द्र जैन, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, राधाकृष्ण, पहाड़ी, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, नरोत्तमप्रसाद नागर आदि। इन पुरुष लेखकों के साथ कुछ उत्तम लेखिकाएँ भी हैं जिनमें परिस्थिति भेदक अन्तःवृत्तियों के प्रकाशन की

पूरी क्षमता दिखाई पड़ती है और जिनकी भाषा में बल और सफाई का अच्छा रूप प्राप्त होता है। ऐसी कलाकार महिलाओं में सर्वश्री शिवरानी देवी, सुभद्राकुमारी चौहान, उषादेवी मित्रा, कमला त्रिवेणीशंकर, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, सुमित्रा कुमारी, कमलादेवी चौधरी, सत्यवती मल्लिक, होमवती देवी, तेजरानी दीक्षित आदि हैं।

समय की गति के साथ हिन्दी में हास्यरस की अभिव्यक्ति के साधन-रूप में भी कहानियों की अच्छी, स्वस्थ और आवश्यक पद्धति का विकास हुआ है। जी० पी० श्रीवास्तव की सरस कहानियों के साथ अन्नपूर्णानन्द और कृष्णदेवप्रसाद गौड़ की व्यंग्यात्मक और देशकाल की कठोर आलोचना करनेवाली रचनाओं की बड़ी ख्याति हैं। अन्नपूर्णानन्द के प्रधान संग्रह हैं—'मेरी हजामत', 'मगन रहु चोला' और गौड़ जी की मुख्य कृतियाँ हैं—'पिगसन की डायरी' और 'धन्यवाद'।

उक्त कलाकारों की प्रवृत्तियों से कुछ बातों का स्पष्ट संकेत मिलता है। जीवन और जगत की नाना स्थितियों और भावों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म निवेदन की ओर तो सामान्यतः सभी लेखकों का ध्यान बना रहता है, पर कुछ ऐसे भी कलाकार हैं जो इतनी भीड़-भाड़ में चलना पसन्द नहीं करते। इसलिए ऐसे लोग अपनी एकान्तिक विशेषता गढ़ कर और शैली विशेष के पथ-प्रदर्शक बनने की स्पृहा से प्रेरित होकर कोई एक अंग पकड़ कर चलने की चेष्टा कर रहे हैं। जीवन की अनेकानेक जटिलताओं के कारण वे जीवन और जगत् के प्रत्यक्ष अध्ययन से दूर ही रह जाते हैं और केवल कल्पना अथवा बुद्धि के बल पर सर्जना करते हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि रचना का प्रतिपाद्य अथवा लक्ष्य कृतिकार की वैयक्तिक रुझान हो रही है।

इस प्रकार कहीं तो कहानी के क्षेत्र में निबन्ध और रेखाचित्रों का आक्रमण दिखाई पड़ता है, तो कहीं विशेषता-विधायक एकांगिता के दर्शन हो रहे हैं। कहीं कोई रतिमूलक काम-वासना की विविध रंगीन स्थितियों के उद्घाटन में प्रवृत्त है, कहीं कोई मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

की बारीकियों को लेकर तर्क-वितर्क करता मिलता है, तो कहीं कोई रचना-विधान में ही कुछ नूतनता का चमत्कार और आकर्षण पैदा कर रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि आज कहानी-रचना के क्षेत्र में विभिन्न प्रयोगों का बाजार गरम है; कहानी न लिख कर लोग व्यक्तिगत चमत्कार-वाद की ओर झुकते जा रहे हैं। इस प्रकार साहित्य का सम्बन्ध लोक से विच्छिन्न होता जा रहा है। और जहाँ बुद्धि की प्रखरता बढ़ती जा रही वहीं हृदय की तरलता या संवेदनशीलता अशक्त होती जा रही है; शून्य में व्यक्ति अपनी ठूँठी बुद्धि को खड़ा कर साहित्य की विडम्बना प्रकट कर रहा है और साहित्य के स्थान पर व्यक्ति निर्मित होता जा रहा है। यह स्थिति स्वस्थ नहीं मानी जा सकती।

निबंध

गद्य के इस तृतीय उत्थान के भीतर निबंध-रचना के क्षेत्र का बड़ा ही भव्य और स्वस्थ प्रसार-विकास दिखाई पड़ता है। अभी तक जो लेखक अपने निबंधों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास और रामचन्द्र शुक्ल की पद्धति पर विषय के प्रति निष्ठा बाँधकर चलते थे वे भी आगे चलकर शुद्ध निबंधकार के रूप में दिखाई पड़ने लगे हैं। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आलोचनात्मक निबंधों की ओर से हट कर व्यक्तिनिष्ठ, आत्मपरक अथवा आत्माभिव्यंजक निबंधों की रचना करने लगे हैं। उनके 'कुछ' और 'और कुछ' में जो उनके निबंध संगृहीत हैं उनमें समाज, जीवन, धर्म आदि पर व्यक्तवादी दृष्टिकोण से और अपनी व्यक्ति-विधायिनी वृत्तियों को साक्षी मानकर, कुछ कहा गया है। अंगरेजी के परसनल् एसे की तरह इन निबंधों में बख्शी जी ने बड़ी आत्मीयता के साथ विषयों को उपस्थित किया है। इसी आत्मपरक शैली के कारण इन रचनाओं में रोचकता दिखाई पड़ती है, इसी तरह विविध विषयों पर लेख और प्रबंध तैयार करनेवाले वयोवृद्ध लेखक बाबू गुलाब-राय के वे निबंध विशेष महत्त्व के हैं जो 'फिर निराश क्यों' और 'मेरी

अफसलताएँ' में संगृहीत हैं। इनमें न तो आलोचनात्मक शैली की विवेचना कहीं दिखाई पड़ती और न मनोविज्ञान पर आधारित दार्शनिकता कहीं उभड़ने पाई है। कहीं व्यंग्य-आक्षेप है तो कहीं आत्मानुभूति की सजीवता निखरती मिलेगी; असंबद्ध और अपूर्ण ढंग से कही गई बातों में भी आत्मीयता के कारण स्वारस्य झलकता मालूम पड़ता है। अपने जीवन से संबद्ध सूत्रों को निकाल कर जिस रूप में गुलाबराय जी अपनी धारावाहिक बात सामने रखते हैं उसमें उनकी आत्मा मुखरित मिलती है। अतीत प्रसंगों के उल्लेखपूर्वक जो व्यंग्य और आक्षेप की कथा ये कहते हैं उनमें आत्मचरितात्मक निवेदन के कारण रोचकता उत्पन्न हो जाती है।

आत्मपरक निबंधों की परिपाटी में महादेवी वर्मा की उन कृतियों की गणना करनी चाहिए जो 'अतीत के चल चित्र', 'स्मृति की रेखाएँ',, 'शृंखला की कड़ियाँ' में संगृहीत हैं। ये निबंध मूलतः लेखिका के जीवन से संबद्ध हैं और इसलिए उनमें जो कुछ भी कहा गया है अथवा वे जिस रूप में उपस्थित किए गए हैं उसमें ऐकांतिक निजत्व है—यही निजत्व इस कोटि के निबंधों का प्राण है। कृतिकार के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में जहाँ जो कुछ आया है चाहे वह करुणा-ममत्व से आर्द्र हो अथवा त्याग-उत्सर्ग से दीप्त हो—सब को लेकर क्रम से बातें कही गई हैं। इन रचनाओं में कवित्व भी है और यथार्थ भी, काव्यात्मक रंगीनी और चित्रविधान भी दिखाई पड़ता है और क्षोभ, असंतोष, आक्षेप तथा व्यंग्य का स्वरूप भी सामने खड़ा हो जाता है। आत्माभिव्यंजकता का सर्वोत्तम विधान इन रेखा-निबंधों में दिखाई पड़ता है। व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिनिधित्व करनेवाले निबंधों में सियारामशरण गुप्त की कुछ रचनाएँ बेजोड़-सी हैं। 'झूठ-सच' नामक संग्रह की सभी रचनाएँ अपने ढंग की अनूठी हैं। सरल से सरल और साथ ही सहज किसी स्थिति घटना अथवा दृश्य से इनकी बातें निकल पड़ती हैं और फिर बड़ी सुसंबद्धता से आगे बढ़ती चलती हैं। न उनमें कोई पूर्व

निर्धारित क्रम रहता है और न किसी प्रकार का बनावटीपन ही आने पाता—इसी तरह स्वच्छन्दगति से मनःस्थिति के प्रसाद-रूप उसके भीतर से ही एक समग्रता तैयार हो जाती है। 'अपूर्ण' 'घूँघट' 'बहस की बात' में विषय कितनी मनोरंजकता और आत्मीयता से कह दिया गया है। बात का बतंगड़ मात्र है पर उसमें सार भी है तत्त्व भी है और विचार करने का पूरा मसाला है। इन रचनाओं से सर्वत्र लेखक के बौद्धिक और सांस्कृतिक गठन का आभास प्रकट होता है।

व्यक्तिप्रधान निबंधों की रचना में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी को बड़ा यश मिला है। 'बाण भट्ट की आत्मकथा' लिखनेवाला जब अनौपचारिक ढंग से और मैत्रीभाव से नित्य के सामान्य विषयों पर भी कुछ कह चलता है तो उसमें धर्म, शास्त्र और काव्य के न जाने कितने प्रसंग स्वयमेव सहज रूप में आते चलते हैं और एक बात से दूसरी और दूसरी से तीसरी इस ढंग से निकल कर फैलती चलती है कि सुनने और पढ़नेवाला बहुत कुछ जान समझ कर भी जहाँ का तहाँ बैठा रह जाता है। बात बड़े सहज रूप में आरम्भ होती है पर भिन्न-भिन्न शाखाओं और सूत्रों का आधार लिए जड़ से फुनगी तक फैल जाती है। उनके 'अशोक के फूल' में संगृहीत निबन्धों की यही विशेषता है कि किसी सामान्य से सूत्र को पकड़ कर विषय स्थापित कर दिया गया है और फिर तो लेखक अपने विविध विषयों की जानकारी का इतना सुन्दर उपयोग करता मिलता है कि बात की बात में बहुत कुछ बड़ी सरसता और आत्मीयता से सामने आ जाता है। ऐसा करने में किसी प्रकार का भारीपन अथवा गांभीर्य नहीं उत्पन्न होने पाता। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', 'एक कुत्ता और एक मैना', 'अशोक के फूल' आदि निबंधों को आत्माभिव्यंजक-रचनाओं का सर्वोत्तम रूप समझना चाहिए। इस ढंग की कारयित्री प्रतिभा का अधिकाधिक उपयोग होना चाहिए।

विचारशील लेखकों में जैनेन्द्रजी का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके कुछ निबंध तो शुद्ध विचार-प्रधान हैं और कुछ प्रश्नोत्तरी

शैली पर लिखे गए हैं। जहाँ लेखक दार्शनिक ऊँचाई से नीचे आकर विषय का आत्मीयतापूर्ण निवेदन करता है अथवा नैतिक एवं सामाजिक चलते प्रश्नों को उठाता है और मित्रवत् बहस करने के लिए सन्नद्ध मिलता है वहाँ आत्मपरक निबंध का अच्छा रूप प्रस्तुत हो जाता है। 'आप क्या करते हैं' 'बाजार दर्शन', 'रामकथा' आदि ऐसे निबंध हैं जिनमें लेखक दिल खोलकर सामने दिखाई पड़ता है। आवश्यकता पड़ने से वह व्यंग्य और आक्षेप भी करता है और अपने विचार-वितर्क भी सरलता से उपस्थित करता है। इस क्षेत्र में रामवृक्ष बेनीपुरी की कृतियाँ—'माटी की मूरतें' 'गेहूँ और गुलाब' उत्तम कोटि की चीजें हैं; लेखक के मन की रुझान को तो प्रकट करती ही हैं साथ ही विचारोन्मेष के लिए भी भूमि निकालती चलती है। इन आत्माभिव्यंजक निबंधों के अतिरिक्त महाराजकुमार रघुवीरसिंह के भावात्मक, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के संस्मरणात्मक और राहुल सांकृत्यायन के भ्रमण या वर्णन प्रधान निबंध भी हिन्दी के लिए गौरव की कृतियाँ हैं—भाषा-शैली, विषय-कथन और बौद्धिक विनोद के विचार से भी।

समीक्षा

द्वितीय उत्थान के भीतर कहा जा चुका है कि किस प्रकार श्यामसुन्दर दास और रामचंद्र शुक्ल के कृतित्व से हिन्दी-आलोचना कुहासे से बाहर निकल कर बुद्धि और हृदय की स्वच्छता लिए विवेचना के प्रशस्त मार्ग पर आ खड़ी हुई थी। अपनी शास्त्र-चिंतन की अतीत सम्पन्नता के आलोड़न से और साथ ही अंगरेजी के माध्यम से प्राप्त अन्य देशी विदेशी विचारों के प्रभाव से हिंदी की विविध समीक्षात्मक विधाओं का रूप प्रस्फुटित हुआ इसका कुछ उल्लेख हो चुका है। इस युग में श्यामसुन्दर दास के 'साहित्यालोचन' से काव्य-रचना के समस्त रूपों और सिद्धान्तों का सामान्य परिचय मिला और एक ओर तत्कालीन प्रकाशित होनेवाली कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि

की निर्मिति के लिए प्रोत्साहन भी मिला और दूसरी ओर उनकी परीक्षा और विश्लेषण के लिए आधार-शिला भी मिली। इससे शिक्षा सम्बन्धी विकास और स्तर में कुछ बौद्धिक ऊँचाई दिखाई पड़ने लगी। यहीं पर यह स्पष्ट स्वीकार कर लेना चाहिए कि इस दिशा में आगे न तो आवश्यक अनुशीलन की ओर लोग प्रवृत्त हुए न किसी प्रकार की छानबीन अथवा परिष्कार हो पाया। आज तक स्थिति वही बनी हुई है और जहाँ तक रचना-विधान संबंधी शास्त्रीय ग्रंथों का प्रश्न है हिन्दी में कमी ही कही जायगी। साहित्य के विविध भेदों और स्वरूपों की रचनात्मक मीमांसा करनेवाली उत्तम कोटि की थोड़ी सी भी कृतियाँ हिन्दी में आज नहीं हैं।

एम० ए० आदि उच्चतम परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित होने के कारण साहित्य के साथ-साथ भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव इसी उत्थान के भीतर हुआ और श्यामसुन्दर दास के 'भाषा विज्ञान' के अतिरिक्त नलिनीमोहन सान्याल और मंगल-देव शास्त्री आदि की कुछ रचनाएँ सामने आईं। इस क्षेत्र में बहुत धीमी गति से ही क्यों न हो काम आगे बढ़ता गया और आज थोड़े से उत्तम ग्रंथ हमारे सामने प्रस्तुत हैं। इनसे आशा होती है कि यदि उत्तरोत्तर इसी क्रम से अनुशीलन एवं लेखन की शक्ति को प्रसार मिला तो समीप भविष्य में इस विषय की और भी उत्तमोत्तम कृतियों के दर्शन होंगे।

इन उत्थान के कुछ आगे-पीछे रामचन्द्र शुक्ल की सूर, तुलसी, जायसी आदि पर विस्तृत समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं। कवि-कर्म संबंधी विविध पक्षों की विवेचना करनेवाली इन समीक्षाओं का व्यापक प्रभाव पड़ा। कोई ठीक रास्ता दिखा दे इसी की कमी का अनुभव उस समय हो रहा था। एक ओर उच्चतम शिक्षा पाए हुए नवीन चिंतकों की मंडली तैयार हुई और दूसरी ओर शुक्ल जी ऐसे मार्ग दिखानेवाले मिल गए। इन समीक्षाओं के अतिरिक्त शुक्ल जी के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के

निकलने से ऐतिहासिक ढंग की आलोचना ने कुछ स्थिर स्वरूप ग्रहण किया। इतिहास लिखने की प्रवृत्ति को भी कुछ उभाड़ मिल गया साथ ही व्यावहारिक आलोचना का मार्ग भी खुल पड़ा। फिर क्या था; धीरे-धीरे विविध रंगढंग की आलोचनाओं की बाढ़ पैदा हो गई। इस क्षेत्र की जैसी शीघ्र और व्यापक समृद्धि देखने में आई वैसी अन्य किसी क्षेत्र की नहीं। आज तो स्थिति यह है कि यदि प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों की संख्या सौ है तो उसमें से सत्तर पुस्तकें आलोचना की होती हैं और तीस आलोच्य अर्थात् साहित्य-सर्जना की। इस अनुपात से तो विचारकों के मन में संदेह पैदा होने लगा है कि समीप भविष्य में कहीं ऐसा न हो कि सर्वत्र आलोचना ही आलोचना फैल उठे और आलोच्य नाम की वस्तु ही विलीन हो जाय। इस भयावह स्थिति का विचार कर यदि चाहें तो कह सकते हैं कि यह आलोचना का युग है अथवा 'शुक्ल-युग' है। कुछ दिन तो 'कला' नामधारी ग्रंथों का प्रणयन चलता रहा, फिर 'एक अध्ययन' की भीड़ लगी। इस तरह हजारों रचनाएँ एक रंगढंग और एक पद्धति की प्रकाशित हुई हैं।

अंत में यदि हम विचारपूर्वक प्रवृत्तियों के आधार पर संक्षेप में देखें तो इस उत्थान के भीतर आलोचना की तीन मोटी-मोटी रूपरेखाएँ सामने दिखाई पड़ती हैं। १९३५ तक एकच्छत्र रामचन्द्र शुक्ल के आचार्यत्व की छाया फैली मिलती है। इस सीमा में प्रखरता केवल शास्त्र-सम्मत समीक्षा (फार्मल या एकाडेमिक क्रिटिसिज्म) की भरी दिखाई पड़ती है जिसमें कृति अथवा कृतिकार के काव्य-निर्माण से संबद्ध अनेक पक्षों और विभिन्न तत्त्वों की विवेचना और परीक्षा होती है; इसके अन्तर्गत देश-काल विषयक विविध बातों का विमर्श भी समझना चाहिए। इस पद्धति को ठोस भूमि और प्रगति प्रदान करने में शुक्ल जी की अमर और ऐतिहासिक महत्त्व की समीक्षाओं ने आदर्श का काम किया और आज भी विषय के सर्वांग परीक्षण की यह प्रणाली अपने ढंग से चलती आ रही है। अनेक श्रेष्ठ आलोचक मूलतः इसी वर्ग के भीतर गिने

जाते हैं। १९३५ के लगभग कविता के क्षेत्र में परिवर्तन को प्रवेश मिला और कवि की आंतरिक भूमिका से निकल कर कविता समाज के व्यापक भाव और विचार के क्षेत्र में आ गई। साहित्य का सामान्य जन-जीवन से अन्योन्य संबंध स्थापित हुआ और उसके विश्लेषण की पद्धति अथवा मूल्यांकन की आधार-शिलाओं में भी यथायोग्य नूतन विधान प्रयुक्त होने लगा। इस प्रकार साहित्य-सर्जना में प्रगतिवादी दृष्टिकोण और प्रेरणा ने सूत्र-संचालन का कार्य अपने हाथों लिया और समीक्षा की विधि और प्रणाली में भी तद्वत् परिवर्तन प्रविष्ट हुए। अब साहित्य का मूल्य इस आधार पर आँकने का आग्रह किया जाने लगा कि उसमें यथार्थ सामाजिक जीवन एवं वस्तु-स्थिति को चित्रित करने की शक्ति है अथवा नहीं और वह पीड़ित या शोषित वर्ग को कहाँ तक प्रेरणा प्रदान करता है। देश के जन-जीवन के भीतर कहाँ-कैसी संघर्ष की स्थिति है, कृषक-जमीदार अथवा मजदूर-पूँजीपति के पारस्परिक संबंध कैसे हैं, भिन्न-भिन्न वर्गों के भीतर सुधार-परिष्कार की क्या बातें आवश्यक हैं—आदि विषयों की ओर साहित्य अथवा साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित होना चाहिए। इस प्रकार साहित्यालोचन को नया मोड़ मिला और साहित्य के निर्माण को वास्तविकता की कठोर शिला पर खड़ा किया गया। वह कविमानस की विविध रंगीनियों से उन्मुक्त होकर बाह्य जगत् के यथार्थ वातावरण का आकलन करने में प्रवृत्त हुआ। थोड़े में कहा जा सकता है कि साहित्य की सर्जना और समीक्षा दोनों अन्तर्मुख से बहिर्मुख बन गईं।

बहिर्मुख होते ही आँधी आई—मनोविश्लेषणवाद की और फिर पुकार मची परिवर्तन की। इस वाद की स्थापना यह हुई कि साहित्य अपने निर्माता की अन्तश्चेतना में पली नाना प्रकार की कुण्ठाओं का व्यक्त परिणाम है, अतएव उसका यथार्थ मूल्य यदि लगाना है तो कृतिकार के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की ऐसी सूक्ष्म चीर-फाड़ होनी चाहिए कि उसके शरीर या मानवीय आवरण का एक-एक कण और रगरेशा

समझ में आ जाय। इस प्रकार पुनः बाहर से हट कर भीतर प्रवेश करने की आकांक्षा आलोचना जगत् में दिखाई पड़ रही है। थोड़े में हिन्दी-आलोचना की सारी प्रगति भीतर-बाहर की कहानी है; गंगा से वोल्गा और वोल्गा से गंगा में आ जाने की बात है। जुलाहे की ढरकी की तरह कभी इस तरफ और कभी उस तरफ करने से साहित्य की सारी निर्मिति और उससे संबंध रखनेवाली समीक्षा की विधाएँ भयंकर अनिश्चित दशा में अस्तव्यस्त सी दिखाई पड़ती हैं। ऐसी स्थिति किसी भी साहित्य के लिए मंगलमय नहीं मानी जा सकती। मूल्यों और मान्यताओं में जब तक कुछ सामान्य स्थायी गुणधर्मों की स्थापना नहीं होती तब तक सच्ची समीक्षा का स्वस्थ स्वरूप विकसित नहीं हो सकता।

आधुनिक श्रेष्ठ समीक्षकों का वर्गीकरण यदि उक्त विभिन्न प्रवृत्तियों के आधार पर करना हो तो कहा जा सकता है कि शुक्लजी की पद्धति पर चलनेवालों में अथवा विषय का आकलन कुछ शास्त्र पक्ष से अधिक करनेवालों में विश्वनाथप्रसाद मिश्र, केशरीनारायण शुक्ल, लक्ष्मीनारायण सिंह, विनय मोहन शर्मा, सत्येन्द्र, कृष्णशंकर शुक्ल, प्रभाकर माचवे, नलिन विलोचन शर्मा, इन्द्रनाथ मदान मुख्य हैं। सामाजिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अंतर्गत जिसमें मानवतावादी भित्ति को शामिल समझना चाहिए—नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा रामकुमार वर्मा, माताप्रसाद गुप्त, प्रमुख विचारक अथवा चिंतक हैं। प्रगतिशील भावनाओं की तुला पर विषय-निरूपण की पद्धति ले चलने वालों में रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द गुप्त, शिवदानसिंह चौहान आदि प्रमुख हैं। इसी तरह अन्तश्चेतना की विवृतियों को साक्षी मानकर मनोविश्लेषणवादी आलोचकों में नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, देवराज, अज्ञेय, प्रभृति आते हैं। इनमें से अनेक तो ऐसे भी हैं जिन्होंने स्फुट विचार वितर्क उपस्थित किए हैं; किसी विशिष्ट कृतिकार की सर्वांगीण परीक्षा अपनी पद्धति से नहीं की।

समीक्षा की एक पद्धति ऐसी भी चली आ रही है जिसमें समीक्षक कृतिकार की आलोचना करते समय अपनी कल्पना, भावात्मकता और उद्भावना का ऐसा प्रयोग करता है कि कवि के साथ-साथ उसकी भाव-सत्ता का पूरा प्रसार देखने को मिलता चलता है। इस वर्ग के मूर्धन्य लेखक शांतिप्रिय द्विवेदी हैं। कहीं-कहीं उनकी समीक्षा में ऐसे भी स्थल आ गए हैं जहाँ आलोच्य पीछे छूट गया है और द्विवेदी का हृदय उभड़ कर सामने आ गया है। इसीलिए इस कोटि की समीक्षा को निर्मितिमयी रचनाओं में स्थान दिया जाता है। इसके अतिरिक्त एक विशाल तालिका उन श्रेष्ठ समीक्षकों की भी आज सामने आती है जिन्होंने शोध और अनुशीलन में प्रवृत्त हो कर एक-से-एक उत्तम कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। इन अनुशीलन संबंधी प्रबंधों को आधुनिक आलोचना का प्रशस्त स्वरूप मानना चाहिए।

गद्य-काव्य

हिंदी में शुद्ध गद्यकाव्य के प्रधान तीन ही लेखक हैं—राय कृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री और वियोगी हरि। इनमें चतुरसेन शास्त्री ने थोड़ा बहुत जो कुछ लिखा है वह उस शैली पर जिसमें बँगला का 'उद्भ्रांत प्रेम' लिखा गया है। उनके 'अंतस्तल' में विविध भावात्मक विषयों पर लिखे गए छोटे-छोटे निबंध हैं जो मनःस्थिति के अनुरूप उभड़ती हुई काल्पनिक अनुभूतियों के हलके-हलके और लघु प्रसारवाले स्रोत हैं। उनमें भावावेश वाली भाषाशैली ही मुखर रहती है। भावापन्नता में उद्भूत रहस्यात्मकता जागरित करने का अवसर इसमें नहीं मिल पाता। यों तो इस पद्धति पर लिखी गई अन्य ढंग की रचनाएँ भी हो सकती हैं। इसी को यदि भिन्न उपकरण और आवरण मिल जाए तो चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की काव्यात्मक कहानी तैयार हो सकती है अथवा महाराजकुमार रघुवीर सिंह के भावात्मक निबंध स्वरूप ग्रहण कर ले सकते हैं। परंतु उसका अपना शुद्ध स्वरूप तो वही है जो शास्त्री जी के अंतस्तल में

प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त फिर तो केवल 'गीतांजलि' वाली प्रणाली ही रह जाती है। हिंदी में उसका पूरा-पूरा अनुसरण राय कृष्णदास और वियोगी हरि में दिखाई पड़ता है। विषय और शीर्षक का निर्वाचन, परोक्ष आलंबन के प्रति मनोनिवेश, अनुभूति की तीव्रता, पदावली की व्यावहारिक सरलता इत्यादि के विचार से दोनों में अत्यधिक साम्य है। शुद्ध गद्य काव्य का प्रकृत रूप इन्हीं में मानना चाहिए क्योंकि कविता की भाँति इन कृतियों में भी उक्ति-भंगिमा के वैशिष्ट्य के द्वारा लक्ष्य की ध्वन्यात्मक पुष्टि मिलती है। अवश्य ही इन दोनों कृतिकारों ने कवीन्द्र रवीन्द्र से प्रेरणा ग्रहण की है ऐसा स्पष्ट मालूम पड़ता है; पर ग्रहण करने का अर्थ न तो नकल है और न श्रेणी-भेद। जिस ढंग की रचनाएँ राय कृष्णदास अथवा वियोगी हरि की हैं उनका पूर्ण परिचय पाकर कोई भी यह स्वीकार किए बिना नहीं रहेगा कि उनमें अपनी स्वतंत्रता और व्यक्तित्व है। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि भाषा पर पूर्ण अधिकार होने के कारण इनकी अभिव्यंजना में सर्वत्र स्पष्टता और प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है। इस क्षेत्र में राय साहब की 'साधना' और वियोगी हरि का 'अंतर्नाद' दोनों हिन्दी की अनुपम कृतियाँ हैं। यों तो इस विषय की इनकी अन्य रचनाएँ भी उतनी ही सुन्दर निर्मित हुई हैं। 'साधना' के साथ राय कृष्णदास की 'छायापथ' और 'प्रवाल' भी उसी ढंग की रचनाएँ हैं और 'अंतर्नाद' के अतिरिक्त वियोगी हरि की 'भावना' भी उतनी ही सफलता के साथ लिखी गई है। पर क्रम में पहले लिखे जाने के कारण प्रथम सफल कृति ही ऐसा प्रसार पा जाती है कि उसी शैली पर लिखी उपरान्त की कृति दृष्टिपथ में अधिक नहीं आ पाती।

वियोगी हरि की एक उत्तम रचना और है 'तरंगिणी'। उसकी छटा सर्वथा निराली है। लोग उसे प्रायः भूल-सा गए हैं पर प्रकाशित होने पर कुछ दिनों तक उसका बड़ा स्तवन होता रहा। उसके विस्मृत होने का मुख्य कारण था उसकी भाषा। भाषा का अत्यधिक अलंकरण

और समासान्त पदावली का अधिक और दीर्घ विस्तार पाठक अथवा अध्येता के मस्तिष्क का इतना अधिक मंथन कर डालता है कि संकेत पक्ष अथवा परोक्ष आलंबन की ओर झुकने का अवसर ही नहीं बच पाता। ऐसी अवस्था में विषय का .सर्वाङ्ग दर्शन बड़ा कठिन हो जाता है और साधारणतः सामान्य पढ़ने वालों से अधिक मनोयोग पाना संभव नहीं होता। जो भी हो इस ढंग की चमत्कारमयी और समासगुम्फित अन्य रचना हिन्दी में फिर आई नहीं।

उक्त लेखकों के उपरांत भी इस क्षेत्र में उद्योग और प्रयत्न चलता रहा और विभिन्न कृतिकारों की रचनाएँ देखने में आई हैं। उनमें दिनेशनंदिनी चोरड्या, सत्यवती मल्लिक और दुर्गेशनंदिनी डागा का कृतित्व विशेष सराहनीय है। इनमें डागा और मल्लिक की 'एकतान' 'ध्वनि का गीत' 'कवि के प्रति' प्रभृति फुटकल रचनाएँ 'हंस' में समय समय पर छप चुकी हैं। इस क्षेत्र में चोरड्या की उद्भावना अधिक बलवती और स्फुटित हो सकी है। 'शबनम' 'उनमन' 'शारदीया' 'मौलिक माल' प्रभृति ग्रंथों में उनकी प्रतिभा का सच्चा स्वरूप उतर आया है। अधिक मात्रा में लिखने के कारण उनकी अभिव्यंजना में पर्याप्त सफाई और निखार भी दिखाई पड़ता है। इन देवियों के अतिरिक्त इस पद्धति की सफल रचनाओं में नोखेलाल शर्मा की 'मणिमाला' और रामप्रसाद विद्यार्थी की 'पूजा' 'शुभ्रा' इत्यादि प्रमुख हैं। इनमें अप्रस्तुत के प्रति संवेदनपरक अच्छी अभिव्यंजनाएँ प्रकाशित हुई हैं। आगे चल कर तेजनारायण काक, त्रिलोचन शास्त्री, ब्रह्मदेव, जगदीश आदि की कृतियों को भी देख कर यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यदि इस क्षेत्र में भी काव्य प्रतिभा को खुल-खेलने का अवसर मिले और उसकी नई नई शैलियों की सर्जनात्मक परीक्षा की जाय तो कविता को नवीन और प्रभावशाली—एक स्वरूप और मिल सकता है। साथ ही अन्योक्ति पद्धति से रहस्यात्मक प्रतीकों की सुंदर कल्पना भी सिद्ध की जा सकती है। परन्तु दुःख है, इन पंक्तियों के लेखक को कि अब इसकी संभावना

कम दिखाई पड़ती है, क्योंकि देशकाल से आक्रांत बुद्धिवाद की कठोर भूमि पर काव्यमूलक सुकुमार वेलि पुनः नहीं पल्लवित हो सकती।